
श्वेत छाया
(हिन्दी वार्ता संग्रह)
व्रजेश दवे

श्वेत छाया

(हिन्दी वार्ता संग्राह)

व्रजेश दवे

प्रकाशक -

व्रजेश दवे।

15/02/2026. शिव रात्री। टोरोन्टो केनेडा।

00 91 94260 41107 / 00 91 95108 45218

dave.vrajesh@gmail.com

- **समर्पित** -

नदी,

सागर,

हिमालय,

जल प्रपात,

मेघ,

वर्षा,

अग्नि

और

आप को।

आमुख

श्वेत छाया!

इन शब्दों को पढ़कर किसीके भी मन में संदेह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। ‘क्या छाया कभी श्वेत हो सकती है?’

‘नहीं।’

यह उत्तर भी स्वाभाविक ही है। छाया का रंग सदैव श्याम ही होता है। बिम्ब चाहे कितना भी श्वेत हो, रंगीन हो, छाया तो श्याम ही होती है। यह सब कोई जानता है। किन्तु जब किसी की छाया मनुष्य के मन में उभरती है तो वह रंगीन भी हो सकती है।

यह श्वेत और श्याम रंग क्या है?

मनुष्य के मन की छवि ही है यह रंग। मनुष्य किसी की छाया की कल्पना अपने मन के रंगों से करता है और वही रंग सदा के लिए उस छाया से जुड़ जाता है।

जब छाया श्वेत, केवल श्वेत होती है तो उस छाया में सभी रंगों की संभावनाएं समाविष्ट हो जाती है। क्यों कि श्वेत रंग अपने भीतर सभी रंगों को समाए रहता है। वह रंग श्याम भी हो सकता है, नीला, पीला, लाल, हरा, बैंगनी, नारंगी या आसमानी! किसके मन में कौन से रंग की छाया, किसी के लिए उभरेगी

वह कोई नहीं जानता। बस, यही कारण है कि मैंने छाया को श्वेत रंग देने की चेष्टा की है।

इस वार्ता संग्रह में सात वार्ताएं हैं। सभी के अपने अपने रंग हैं। इंद्रधनुष के सातों रंग इन सात वार्ताओं में हैं। अब यह पाठक पर निर्भर है कि कौन सी वार्ता से किसके मन में कौन सा रंग उभरता है और उनके मन में कौन सी छाया जन्म लेती है। यह भी हो सकता है कि किसी वार्ता से जब आपके मन में किसी एक रंग की छाया जन्म ले और जब आप उसे पुन: पढ़ें तो वह पूर्व वाली छाया अपने रंग को बदल ले।

आपके मन में कैसी छाया उभरेगी वह मैं नहीं जानता, यह मैं आप पर ही छोड़ देता हूँ।

सब को अपनी अपनी छाया समर्पित करता हूँ।

धन्यवाद।

विनीत,

व्रजेश दवे।

15/02/2026. शिव रात्री। टोरोन्टो केनेडा।

00 91 94260 41107 / 00 91 95108 45218

dave.vrajesh@gmail.com

अनुक्रम -

[1] नदी में बहता सागर

दक्षिण गोवा के किसी अज्ञात निर्जन समुद्री तट पर कल्याणी निकल पड़ी, अकेली। नवंबर महीने की भोर, समुद्र की ठंडी हवा। गुलाबी ठंड में, गुलाबी साडी में सज्ज कल्याणी तट की निर्जनता का अनुभव करने लगी।

समुद्र की लहरें उसके पैरों को और साडी को भिगोने लगी। समुद्र तट हो तो भीगना सहज हो जाता है। इस प्रकार भीगने में उसे आनंद आने लगा। लहरों की सहजता उसके मन को भिगो गई। उसे मन हुआ कि -

‘चल, उछलते सागर में कूद पडूँ और हो जाऊं तरबतर!’

तरबतर?

पानी में तरबतर होने की झँखना थी या किसी के सानिध्य में भीगने की?

उसे कुछ भी समज नहीं आया। बस इतना ही समज आया कि यहाँ की हवा में प्रणय है।

प्रणय! कितना अद्भुत नाम और उतना ही अद्भुत अनुभव। किन्तु यह एकाकीपन? मितेश भी यहाँ साथ आया होता तो?

प्रभात में होटल से जब सागर पर दृष्टि पड़ी तभी कल्याणी ने होटल से निकलकर सागर के पास दौड़ जाने का निश्चय कर लिया था। मितेश को जगाकर कहा,

“चल, सागर बुला रहा है। दौड़ जाते हैं उसके पास।”

आलस और निंद्रा से ग्रस्त मितेश ने कह था, “बड़ी निंद्रा आ रही है। थोड़े समय के पश्चात चलेंगे न? पूरा दिन पडा है हमारे पास। सागर को भी मिल लेंगे...।”

“तू सोता रहे। मैं तो चली। सागर के आमंत्रण को रोके रखने का साहस भी नहीं है और मेरा मन भी नहीं है।”

“ठीक है। तू जा, मैं पीछे से आ रहा हूँ, वहीं मिलेंगे।” और वह चादर ओढ़कर सो गया।

‘ओह, मितेश। तुम कब आओगे? प्रणय में भी आलस? तपती धूप में भी कोई प्रणय करता है क्या?’ वह चलती रही।

‘पुरुष क्यों इतने आलसी होते हैं, प्रणय जैसे श्रृंगारिक विषय में?’

‘पुरुष? कितने पुरुष?’ उसके भीतर से प्रश्न उठा।

“कितने पुरुषों के साथ प्रणय किया है?”

वह विचलित हो गई।

‘तेईस वर्ष के विवाहित जीवन में कभी भी मितेश के अतिरिक्त किसी पुरुष से प्रणय की कल्पना भी नहीं की है। तो यह विचार, यह प्रश्न कहाँ से आए? क्या यह इस स्थान का प्रभाव है? जो भी हो, यहाँ प्रणय के विचारों में, प्रणय के प्रश्नों में भी सुख है।’

प्रणय के विचारों का सागर उमड़ पड़ा उसके मन के तट पर। मन में उभर आया एक नाम, विनीत।

पचीस वर्ष पूर्व के कॉलेज के दिनों के स्मरणों की लहरें टकराने लगी उसके मन के तट पर।

मई की किसी दोपहर में कच्छ की तप्त रेत में, छत्री के नीचे से विनीत की आँखों से आँखें मिली थी और क्षण भर में ही शरीर के अणु अणु से बहकर पूरा वैशाख सारी मरुभूमि में व्याप गया था। मरुभूमि तो जैसे जल उठी।

विनीत ने कल्याणी का दाहिना हाथ पकड़ लिया। कल्याणी स्तब्ध हो गई। एक क्षण के लिए आँखें बंदकर, श्वास रोककर खड़ी रही। विनीत ने उसका हाथ अपनी तरफ लिया, हथेली के पीछे एक सौम्य चुंबन कर दिया।

कल्याणी के सभी बंधन झड गए। उसने आँखें खोली। विनीत के मुख पर एक अद्भुत स्मित दिखा। निमिष मात्र के लिए नयन मिले और विनीत वहाँ से चल दिया। दूर जाते विनीत को वह देखती रही, मूर्तिमन्त!

विनित। कितना भरपूर? तथापि अकबंध! सतत बहता प्रपात तथापि सीमा का सम्मान रखता हुआ। इस सागर जैसा, घू घू करता रहे, बुलाता रहे किन्तु कभी सीमा न तोडे।

किन्तु कल्याणी को तो चाह थी अनराधार बरसते मेघ की।

कितनी बार चाहा कि विनीत बरस पड़े मूसलाधार वर्षा की भांति।

किन्तु विनीत सदैव कहता, "पुष्पों को डाली पर ही रहने दो। वहीं से उन्हें अपने रंग और सुगंध पिलाते रहने दो। उसे तोड़कर मुझे व्यर्थ ही पाप अपने माथे पर नहीं लेना है।"

ओह... विनीत!

'कहाँ होगा विनीत? विवाह के एक दिन पूर्व आया था मिलने, मितेश से भी मिला था।' कल्याणी ने नि:श्वास छोड़ा।

दोनों इतिहास के विद्यार्थी। विनीत से दो वर्ष बड़ा था मितेश। विनीत ने जब अध्ययन सम्पन्न किया था तब मितेश अनुसंधान में जुड़ चुका था।

'वर्षों व्यतीत हो गए! कहाँ होगा विनीत? क्या करता होगा? इतिहास को छोड़ दिया होगा या अभी भी उसमें ही व्यस्त होगा? कुछ भी ज्ञात नहीं है उसके विषय में न ही इतने समय में उसका कोई समाचार है। कैसा है वह भी?'

कल्याणी को क्रोध आने लगा विनीत पर, 'ऐसी मित्रता होती है क्या? कोई पत्र, फोन, इ मेल या ऐसा कुछ भी नहीं? अरे फेसबूक पर भी..? हाँ, हाँ। फेसबूक पर ढूंढती हूँ। वहाँ से तो उसका कोई समाचार मिलेगा ही। होटल पर लौटकर यही करूंगी। आज तो विनीत को ढूंढ ही निकालूँगी, तभी मन शांत होगा।'

वह अधीर हो उठी, होटल लौटने को।

'मन भी कितना अगम्य है? अभी तो होटल छोड़कर सागर को मिलने दौड़ पड़ी और अब सागर को छोड़कर होटल पर लौटने को है मन।'

कल्याणी ने होटल जाने को पग उठाया ही था कि उसके कानों ने दूर दूर से आती किसी ध्वनि को सुना।

‘कोई अस्पष्ट स्वर दूर दिशा से आ रहा है। इतने निर्जन स्थान पर यह स्वर कैसा?’ उसने स्वर पर कान लगाए, उसकी दिशा में चलने लगी। होटल कहीं छूट गई।

धीरे धीरे स्वर स्पष्ट होने लगा।

“यह तो वेद के मंत्रोंच्चार की ध्वनि है। कोई योगी या मुनि कुछ पूजा कर रहे होंगे।’ उसे कुतूहल हुआ।

‘योगी, मुनि आदि तो हिमालय के शिखरों पर होते हैं, यहाँ गोवा के तट पर कहाँ होते हैं?’

बांस का एक तंबू उसे दिख पडा। उसे विश्वास हो गया कि वेद मंत्रों की ध्वनि इसी तंबू से ही आ रही है। वह तंबू की तरफ शीघ्रता से चलने लगी। मंत्रों के साथ अग्नि की सौम्य मंद ज्वाला भी तंबू से प्रकट होकर अपना अस्तित्व दिखा रही थी।

उसने भीतर देखा। मध्य में यज्ञ वेदी थी जिसमें से प्रज्जवलित ज्वालाएं वातावरण को सुगंधित बना रही थी। प्रवेश द्वार की तरफ पीठ रखकर एक पुरुष वेद मंत्रों का शुद्ध उच्चार कर रहा था। यज्ञ वेदी में आहुति दे रहा था। एक पवित्र वायु कल्याणी के तन और मन को स्पर्श कर रही थी। क्षण पूर्व का प्रणय दिव्य हो गया।

उसने भीतर प्रवेश कर लिया। उसके आगमन की ध्वनि को उस पुरुष ने परख लिया। बिना पीछे देखे ही उसने हाथ के संकेत से बैठ जाने को कहा।

कल्याणी वहीं बैठ गई। यज्ञ के पूर्ण होने की प्रतीक्षा करने लगी। तंबू में बैठे पुरुष का निरीक्षण करने लगी। खुली पीठ, कन्धे पर यज्ञोपवीत, गुलाबी सुंदर पीताम्बर, माथे पर कुछ बचे हुए केश, मध्य में क्षीण चोटी, कंठ में कोई माला नहीं, रुद्राक्ष की भी नहीं।

‘पैंतालीस पचास की आयु होगी इस श्रीमान की। शरीर में यौवन की ऊर्जा अभी भी है।’ मन ही मन विचार करती कल्याणी ने अन्य वस्तुओं पर ध्यान दिया।

‘विशेष कुछ सामान नहीं है। दो कुर्सियाँ, लेपटोप, इंटरनेट डोंगल, एक बेग, उसके निकट किसी स्त्री के वस्त्र, कुछ पुस्तकें। और कुछ नहीं?’

उसने पुन: एक बार सभी वस्तुओं पर दृष्टि डाली। उसकी आँखें स्त्री के वस्त्र पर अटक गई।

‘यह मनुष्य कोई योगी या मुनि तो नहीं लगता। यहाँ किसी स्त्री के वस्त्र? यहाँ क्या कर रहे हैं ये? निश्चय ही यह व्यक्ति ढोंगी है। देश विदेश से गोवा आती स्त्रियों को अपनी मोह जाल में फँसाता होगा। योगी को लेपटॉप की क्या आवश्यकता? यह व्यक्ति निश्चय ही बड़ा धूर्त है। मुझे नहीं फंसना इसके चक्रव्यूह में।’

वहाँ से भाग जाने के लिए कल्याणी उठी ही थी तभी यज्ञ की पूर्णाहुति हो गई। उस पुरुष के शब्द सुनाई पड़े, “कल्याणी, तुम्हारा स्वागत है यहाँ।”

अपना नाम उसके मुख से सुनकर कल्याणी चौंक गई, सावध हो गई।

‘यह व्यक्ति निश्चय ही अपराधी है। मुझे फँसाने के लिए मेरे विषय में सब कुछ जानकारी है इसके पास। मुझे यहाँ से भाग ही जाना होगा किसी सुरक्षित स्थान पर।’

शीघ्रता से उसके पग बाहर की दिशा में मुड़े।

“कल्याणी, तुम यहाँ पूर्ण रूप से सुरक्षित हो।” पुन: उसके शब्द सुने उसने।

एक क्षण के लिए वह चकित हो गई। मन दृढ़ कर वह पीछे मुड़ी और उस पुरुष को देखा। उसका मुख दिखने लगा। दाढ़ीधारी पुरुष!

प्रथम दृष्टि में मन की कल्पना से विपरीत भयानक के स्थान पर वह मुख सौम्य लगा। मुख पर दिव्य स्मित, कोई कपट नहीं, न ही कोई विकृति।

दोनों की आँखें मिली।

“लंबे अंतराल के पश्चात मिली हो कल्याणी, और जाने की ऐसी शीघ्रता?”

यह स्वर तो परिचित है, इसे कहीं तो सुना है।’

वह अपने मन की स्मृतियों के बंद सभी कोनों में इस स्वर को खोजने लगी। उसके मन की आशंका और भय कुछ मंद पड़ने लगा। वह स्वस्थ होने लगी।
“कल्याणी, मैं विनीत।”
विनीत का नाम सुनते ही कल्याणी की स्तब्धता स्वस्थता में परिवर्तित हो गई। सारा भय सागर की लहरों के साथ बह गया।

== == == ==

कल्याणी के पीछे पीछे आया मितेश भी विनीत के तंबू के निकट आ पहुंचा। दूर से उसने देख लिया था कि कल्याणी तंबू में प्रवेश कर चुकी है। वह अधीरता से तंबू की तरफ चलने लगा।
तंबू के प्रवेश द्वार पर ही किसी स्त्री ने उसे रोक लिया। मितेश ने विरोध किया।
“अभी अभी भीतर गई स्त्री मेरी पत्नी कल्याणी है।’
“मैं जानती हूँ वह कल्याणी है। वह आपकी पत्नी है या नहीं वह मैं नहीं जानती। किन्तु कल्याणी मेरे पति की युवा काल की मित्र है इतना जानती हूँ। आप कौन हैं?” ज्योति के शब्दों में सहजता थी, परिपक्वता थी, कोमलता भी। इन शब्दों ने मितेश को प्रभावित कर दिया।
“मैं मितेश। कल्याणी का पति। और आप?”
“ओह..। मितेश ठाकुर? मैं ज्योति, विनीत की पत्नी।”
“ठीक है ज्योति विनीत देव। अब मैं भीतर जा सकता हूँ?”
“नहीं मितेश, अभी नहीं।”
“आप जानती हैं भीतर रहे स्त्रि और पुरुष कौन हैं?”
“जानती हूँ। कॉलेज समय के श्रेष्ठ मित्र हैं वे दोनों।”
“वे दोनों भूतपूर्व प्रेमी हैं। वर्षों के पश्चात ऐसे एकांत में मिले हैं तथापि आप..?”

“श्रीमान मितेश, यह भूतपूर्व क्या होता है? प्रेमी कभी भूतपूर्व नहीं होते। ये तो वर्षों से प्रेमी ही हैं। वर्षों के अंतराल के पश्चात मिले हैं तो घड़ी दो घड़ी उन्हें एकांत भोग लेने दो। कवचित ही मिलती इन क्षणों को जी तो लेने दो। इतनी शीघ्रता क्यों है? कौन जाने भावनाओं के कितने सागर उमटे होंगे? उन्हें उसमें डूबने दीजिए।”

“ज्योति, मुझे भय है कि...।”

“उनके मिलन की क्षणों का हमें सम्मान रखना चाहिए, मितेश।”

“आप जानती हो कि भीतर आपके पति हैं तो भी सम्मान रखने...?”

“सम्मान अभय बनाता है, भयभीत नहीं।”

“आप...?”

“मितेश, आपको संदेह है कि वे एकांत में कुछ कर न बैठे, हैं न?”

“वही तो। इन लोगों का कुछ कह नहीं सकते।”

“बस मितेश। हम यहीं कुंठित हो गए हैं। आपको हो न हो किन्तु मुझे मेरे पति और आपकी पत्नी कल्याणी पर पूर्ण विश्वास है। मैं थोड़ी सी भी भयभीत या विचलित नहीं हूँ।”

“ज्योति तुम भूल कर रही ही।”

“भूल तो आप कर रहे हैं मितेश। एक स्त्री को सदा अपने पति पर पूर्ण विश्वास होता है किन्तु आप लोग अपनी पत्नी पर, एक स्त्री पर कभी विश्वास नहीं कर सकते।”

“किन्तु यहाँ तो..?”

“छोड़ो यह सब तर्क वितर्क। इसका कोई अंत नहीं होता। यदि आपको विश्वास न हो तो आओ यहाँ। इस कोने से भीतर की सभी बातें सुनाई देगी, दिखाई देगी। आइए यहाँ। एक अद्भुत प्रसंग के मुक साक्षी बन जाते हैं। कौन जाने दूसरी बार इस जीवन में ऐसी घटना कब देखने को मिलेगी?”

दोनों वहाँ जाकर खड़े हो गए जहां से भीतर की सारी गतिविधियों पर दृष्टि रख सकें किन्तु भीतर से कोई उसे देख न सके। दोनों ने भीतर देखा।

== == == ==

कल्याणी और विनीत परस्पर खड़े थे। समीप ही मंद पड़ी यज्ञ की ज्वाला अभी भी वातावरण को सुगंधित स्पर्श दे रही थी।

कल्याणी के मन की ज्वाला धधक रही थी तो विनीत शांत, प्रसन्न मुद्रा में स्थिर खड़ा था।

उसने कल्याणी का हाथ पकड़ा और सौम्यता से उसे यज्ञ वेदी के निकट बिठाया।

“विनीत, कहाँ था इतने वर्षों से? मुझे कितना कुछ तुझसे कहना है।”

“बोल कल्याणी, मन के भीतर उछलते प्रश्नों की तरंगों को आज तट तक लेकर आ। मन के भार को आज निकालकर रिक्त हो जा।”

“विनीत, मैं तुझे खो चुकी हूँ। तेरे बिना..।”

“प्रेम पाने या खोने की क्रीडा नहीं है कल्याणी। प्रेम तो बरसने की ऋतु है।”

“किन्तु तू तो कभी नहीं बरसा, विनीत?”

“प्रेम में तो भाव बरसते हैं, शरीर नहीं। तेरे प्रति भाव तो इतने वर्षों से बरसता ही रहा है। आज भी अकबंध है।”

“तो भी मुझे लगता है कि मैंने कुछ खो दिया है।”

“तूने कुछ भी नहीं खोया है, कल्याणी। मैं मितेश को जानता हूँ।”

“तू कैसे कह सकता है कि तेरे बदले मैंने मितेश के साथ जीवन जोड़ा है और कुछ भी खोया नहीं है?”

“सहज है, सरल है यह। तुलना करके देख ले, मेरी और मितेश की।”

“तुलना? एक मनुष्य की तुलना दूसरे से कैसे हो सकती है?”

“यदि हमें पाने और खोने की क्रीडा करनी हो तो तुलना का खेल भी खेलना ही पड़ेगा।”

“नहीं खेलना मुझे कोई खेल।”

“तो स्वीकार ले कि तूने कुछ नहीं खोया है।”

“किन्तु उसका खेद तो..।”

“खेद?” विनीत क्षण भर रुका। कल्याणी की आँखों में देखते बोला।

“कल्याणी, मनुष्य किससे प्रेम करता है? मनुष्य को ही न?”

“हाँ, विनीत। मनुष्य मनुष्य को ही प्रेम करता है।”

“तो इस खेद को जीवनभर साथ लेकर जीने का क्या अर्थ है?”

“यूं तो तेरे बिना भी जीने का क्या अर्थ है?”

“क्यों? इतने वर्ष मेरे बिना ही जी गई हो न?”

“किन्तु,” कल्याणी भावुक हो गई, “किन्तु यदि वह जीवन तेरे साथ बिता होता तो कुछ भिन्न ही होता।” कल्याणी की आँखों से दो बूंद गालों पर आकर रुके। विनीत ने उसे देखा। कुछ क्षण मौन हो गया। कल्याणी को उस क्षण से उभरने में समय लगा, विनीत ने समय दिया।

“कल्याणी, मुझे लगता है कि हमें वह खेल खेलना ही पड़ेगा, तुलना का।” विनीत ने दृढ़ता से कल्याणी को देखा। एक सेतु रच गया।

एक झरना नयनों के सेतु से कल्याणी के समस्त अस्तित्व में बह गया। मौन बनकर वह अनिमेष ताकती रही विनीत को।

“हम किसी भी व्यक्ति का मूल्यांकन उसके शरीर, मन, व्यक्तित्व, समाज में उसके स्थान, हमारे प्रति उसके व्ययहार जैसे किसी तत्वों से ही करते हैं। और उस आधार पर निश्चय करते हैं की कोई व्यक्ति हमें पसंद है या नहीं।”

कल्याणी मौन, मंत्रमुग्ध! विनीत की बातों में ओतप्रोत।

“इन सभी बातों में मैं और मितेश समान ही हैं। संभव है, मितेश का व्यक्तित्व अधिक अच्छा हो। ठीक कह रहा हूँ न?”

“हाँ, नि:संदेह।” कल्याणी ने मौन तोड़ा।

“तो जीवन से कैसा असंतोष?”

“मितेश के पास सब कुछ तुझ से अधिक है। मेरे प्रति उसका प्रेम भी तेरे से विशेष है। तथापि वह मितेश है, विनीत नहीं। बस यही खेद है।”

“अर्थात, सब उत्तम है किन्तु इस शरीर की अपेक्षा अन्य शरीर है यही न?” विनीत के तीक्ष्ण प्रश्न को सुनकर कल्याणी कुछ कह न सकी।

“प्रिये !” प्रथम बार विनीत ने कल्याणी के लिए इस शब्द का प्रयोग किया। एक समुद्र उमड़कर कल्याणी के छोटे से ह्रदय में आकर शांत हो गया।

“प्रेम शरीर को नहीं व्यक्तित्व को अपनाने की अवस्था है।”

“विनीत, यदि तुम प्रेम होने के कारणों को समज सकते तो?”

“कल्याणी, प्रेम के कारण पुरुषों को अच्छे लगते हैं। स्त्रियों को तो भाता है केवल प्रेम करना। बस प्रेम करते रहना। तू भी तो एक स्त्री ही है। प्रेम के कारणों में तू कहाँ उलझ रही हो? बस प्रेम करती रहे।”

“मुझे तेरी या मितेश की बातें नहीं समज आती।”

“जिसे प्रेम करते हैं उसे समजने का व्यर्थ प्रयत्न क्यों करना? बस, चाहते रहो। समज स्वत: व्यापक हो जाएगी, सभी सीमाएं टूट जाएगी।”

“ओह.। विनीत।”

“मेरा प्रश्न अभी भी वही है, हम किसे प्रेम करते हैं? व्यक्ति को या व्यतित्व को?”

“विनीत, तू गोवा के कामुक तट की रेत पर वैदिक मंत्रों से यज्ञ कर सकता है और मरुभूमि की तप्त रेत में भी तुझे प्रणय हो सकता है।”

“वह मेरा व्यक्तित्व है। ऐसा ही अद्भुत व्यक्तित्व मितेश का भी है। हिमालय के अज्ञात पर्वत शिखर पर जाकर हाथ में गिटार लेकर गीत गाता मितेश! ठीक कह रहा हूँ न?”

“हाँ। तू कैसे जानता है यह?”

कल्याणी कुछ भी समजे उससे पूर्व ही विनीत ने कल्याणी का दाहिना हाथ पकड़ लिया, हथेली के पीछे एक सौम्य, वह चिर परिचित चुंबन कर दिया। कल्याणी ने आँखें बंद कर ली। उसे वहीं छोड़कर विनीत तंबू से बाहर निकल गया।

मितेश और विनीत की आँखें मिली। क्षण में तो कितना ही मौन आदान प्रदान हुआ होगा उसका किसी को ध्यान ही नहीं रहा। दोनों के होंठों पर स्मित क्रीडा कर रहा था।

विनीत और ज्योति एक दूसरे का हाथ पकड़ कर चल पड़े सागर में डुबकी लगाने को।

तंबू के भीतर विनीत के सौम्य चुंबन का अनुभव लिए बंद आँखों में कल्याणी को कहीं भी विनीत नहीं दिखा। दिखा तो केवल मितेश।

कल्याणी ने आँखें खोली तब भी प्रत्यक्ष था विनीत के स्थान पर मितेश।

मुख पर छलकते प्रेमसागर को लिए खड़ा था मितेश।

कल्याणी को संदेह हुआ कि मितेश का यहाँ होना कोई भ्रम तो नहीं? किन्तु तभी मितेश ने उसे जकड़ लिया अपने बाहुपाश में।

तंबू से बाहर सागर में तरबतर हो रहे विनीत और ज्योति। तंबू के भीतर रस में डूबे कल्याणी और मितेश।

और आप?

उन सब को उनके रस में छोड़कर आप भी हो जाओ न तरबतर, मित्र!।

सम्पन्न।

[2] कुछ खोजकर तो देखो

“मनुष्य का कार्य प्रकृति के नियमों का पालन करना है। प्रकृति का क्रम है - ज्योति, तमस और पुन: तमस। सूर्य ज्योति का प्रतीक है। रात्रि तमस का प्रतीक है। सूर्य प्रकाश लेकर आता है। उसके जाने से रात्री तमसमय बन जाती है। ज्योति और तमस अविरत आते जाते रहते हैं। यही प्रकृति का क्रम है।”

अविरत बोलते बोलते रुकते हुए गुरु विश्वात्मा ने गहरी सांस ली। आँखें खोली। शिष्य मंत्र मुग्ध हो गुरु के शब्दों सुन रहे थे।

गुरु की वाणी रुकते ही शिष्य भी ध्यान भंग हो गए। गुरु के वचनों पर मनन करने लगे।

अचानक पुरुरवा पूछने लगा, “सूर्य के प्रकाश में मन स्वस्थ और निश्चिंत रहता है। किन्तु रात्री आते ही तमस में मन सतत भय का अनुभव करता है। ऐसा क्यूँ? रात्रि के तमस को कैसे मिटा सकते हैं?”

गुरु ने पुरुरवा को देखा। वे जानते थे कि वे जो कुछ कह रहे हैं वह सत्य है किन्तु वे यह नहीं जानते थे कि ऐसा क्यों होता है? उसका दृढ़ विश्वास था कि संसार की सभी घटनाओं के कारण होते ही हैं। केवल उसे खोजना होता है। उनके पास पुरुरवा के प्रश्न का उत्तर नहीं था।

पुरुरवा एक आदर्श शिष्य था। स्वस्थ, सशक्त, चतुर और गुरु का प्रिय। उसकी विशिष्टता यह थी कि वह प्रत्येक कार्य के कारणों को खोजने का प्रयास करता, सफल होता। तभी तो वह श्रेष्ठ था। बाकी शिष्य भी अनेक थे- बंसी, विदीक्षा, वसुमित्र, विनायक, वीणा, अनंत, त्रिया, आनंद और वह भार्गव भी!

गुरु ने शांत चित्त से कहा, “वत्स, मैं भी इन प्रश्नों के उत्तर नहीं जानता। मैं भी उसे जानना चाहता हूँ। अथक प्रयत्न किए है तथापि उन रहस्यों को पा नहीं सका

हूँ। संभव है कि आप में से ही कोई उसका उत्तर खोज निकले। मुझे विश्वास है कि यह कार्य पुरुरवा ही कर पाएगा।"

भार्गव क्रोधित हो उठा, "गुरुदेव, आपको पुरुरवा के प्रति पक्षपात है। आपको हम पर विश्वास ही नहीं है। आपके आशीष केवल पुरुरवा को ही मिलते हैं।"
विशुद्ध शांति से हाथ उठाकर गुरु ने उसे शांत करने का प्रयास किया किन्तु भार्गव अभी भी क्रोधित ही था, "आपने अपने ज्ञान देने में पक्षपात किया है। पुरुरवा को ...।"
गुरु ने उसे रोकते हुए कहा, "वत्स, ज्ञान तो सूर्य की ज्योति जैसा है। सर्वत्र समान व्याप्त होता है। उसे प्राप्त करने का आधार उसे ग्रहण करनेवाले पर ही निर्भर है। पुरुरवा केवल सुनकर, स्वीकार कर बैठा नहीं रहता। वह आगे आगे मंथन करता है। कुछ नया करने का, नया समजने का प्रयास करता है। नया प्राप्त भी करता है। तभी तो वह श्रेष्ठ है। ज्ञान के लिए उसमें असीम झँखना है, क्षुधा है।"
आनंद बीच में ही बोल पड़ा, "क्षुधा से मैं व्याकुल हो रहा हूँ। गुरुमाता ने फल भी लाकर रखे होंगे।"
आनंद सदैव गंभीर स्थिति में अपने आनंदपूर्ण स्वभाव से वातावरण की गंभीरता को मिटा देता था। सभी फल खाने लगे। पश्चात सभी नदी के बहते जल की तरफ गए। सब ने पानी पिया और प्रकृति के रस को पीने के लिए अरण्य की तरफ मुड़े। त्रिया और पुरुरवा नदी के तट पर ही रुके रही। पुरुरवा के मुख पर बहती नदी को पाने की व्यर्थ चेष्टा कर रही थी - त्रिया।
और दोनों से दूर खड़े भार्गव के ह्रदय में बह रही थी ईर्ष्या की हरी नदी।
समय बितने लगा। गुरु और पुरुरवा ने अनेक रहस्यों को खोजा। किन्तु रात्रि के तमस को मिटा न सके।

समय के प्रभाव से वृक्ष उजड़ने लगे। फल लाने के लिए अरण्य में दूर दूर तक जाना पड रहा था। सभी की दिशा निश्चित थी। त्रिया और पुरुरवा की भी। केवल भार्गव को ही कोई कार्य नहीं दिया गया थ।

त्रिया और पुरुरवा अति दूर निकल गए। किन्तु ह्रदय से समीप आ गए। गगन बरसने लगा। दोनों के ह्रदय में भी वर्षा की सुगंध खीलने लगी।

दोनों अरण्य में और जल के असीम अरण्य में भटक गए। रात्री होते ही सुरक्षित गुफा में छिप गए। गुफा के बाहर एक नदी बहने लगी। किन्तु भीतर एक नदी और एक समुद्र ने अपना संयम बनाये रखा।

जल का प्रवाह अपना कार्य कर चला गया। अरण्य की पूरी आकृति ही बदल गई। अपने समूह से दोनों बिछड़ गए।

कई सूर्य उदय होकर अस्त हो गए। ग्रीष्म के दिन आ गए। सूर्य अवनी के सभी तत्वों को प्रताड़ित करने लगा। समीर भी अरण्य को डराता हुआ, डांटता हुआ वेग से आर पार निकल जाता था। उससे समस्त अरण्य जैसे किसी की शोक सभा में आया हो वैसे शुष्क और मौन था।

त्रिया और पुरुरवा ने समय से अनुकूलन साधने का प्रयास प्रारंभ कर दिया। अरण्य में उनके पग, मन, ह्रदय, समय और पवन अविरत चलते रहे।

संध्या का रंग बीत गया। रात्री अपने बाहुपाश में तमस को लपेटे हुए व्याप गई कानन के अस्तित्व में।

अचानक एक स्वर उठा, गहन तमस में प्रकाश हो गया। दोनों चौंक गए। किन्तु आनेवाली परिस्थिति के लिए सावध भी हो गए।

वे प्रकाश की तरफ बढ़े। जैसे जैसे प्रकाश के समीप जाते गए वैसे वैसे ताप भी बढ़ने लगा। रात्री होते हुए भी सब स्पष्ट दिख रहा था।

पुरुरवा को आश्चर्य हुआ। नए प्राणी को देख उसका मन अनेक प्रश्नों से घिर गया।

उसने देखा कि प्रकाश और ताप दे रहा प्राणी एक वृक्ष के मोटे ठड़ से बाहर आ रहा था। उसका रंग पीला था। पवन के आने जाने से वह छोटा बड़ा हो रहा था। साथ साथ प्रकाश और ताप भी घटता बढ़ता था।

अचानक उस वृक्ष पर दूसरा वृक्ष गिरा। नए गिरे उस वृक्ष में से भी वही प्राणी निकल रहा था। पुरुरवा ने उसे अनेक प्रकार से परखा।

“त्रिया, मुझे विश्वास हो गया है कि यह प्राणी हिंसक नहीं है। भयानक नहीं है। आक्रमण भी नहीं करता। अपने स्थान को भी नहीं त्यागता। प्रभात में सूर्य प्रकाश में उसकी ज्योति मंद पड जाती है। उस प्राणी के संपर्क से वह अन्य वृक्ष में भी उत्पन्न हो जाता है।”

पुरुरवा उस प्राणी को अविरत परखता रहा। त्रिया विस्मय से पुरुरवा को, उसके कार्य को देखती रही।

दिन बितते गए। वर्षा ऋतु आ गई। वर्षा होने लगी। वर्षा में वह प्राणी की मृत्यु हो गई। पुरुरवा ने उसकी मृत्यु को भी निहारा, परखा। उसकी मृत्यु पर त्रिया प्रसन्न हो गई।

समय व्यतीत होने लगा। वर्षा, शीत, ताप के चक्र घूमने लगे। पुरुरवा ने उस प्राणी के विषय में सब कुछ जान लिया। उसने उसे जन्म देना, उसका उपयोग करना, उसे नियंत्रित कर शांत करना आदि सिख लिया। वह जान गया कि वह प्राणी नहीं है किन्तु प्रकृति का ही एक रहस्य है। त्रिया ने उसे नाम दिया।

अग्नि!

एक अग्नि ने दूसरे अग्नि का नामकरण कर दिया।

इस प्रकार युगों पूर्व त्रिया और पुरुरवा ने खोज कर ली, अग्नि की।

समय का चक्र चलता रहा। वर्षों के पश्चात त्रिया और पुरुरवा गुरु विश्वात्मा और समस्त परिवार से मिले। पुरुरवा ने अपनी नूतन खोज अग्नि के विषय में सब को बताया।

उसने अग्नि प्रज्ज्वलित कर रात्री के तमस से भयभीत सभी को भय मुक्त किया। सभी प्रसन्न हुए। उत्सव के समय की भांति सभी उमंग से भरे थे।

एक तरफ अग्नि जल रहा था तो दूसरी तरफ भार्गव की ईर्ष्या।

वह लाल लाल हो गया।

“प्रथम इस अग्नि के विषय में जान तो लो। केवल तमस दूर हो इससे प्रसन्न होने की आवश्यकता नहीं है। इस अग्नि से होनेवाली समस्याओं को भी जानो। तभी इसका उत्सव मनाना चाहिए।”

“ठीक है भार्गव। चलो, मैं आपको अग्नि के लाभ दिखाता हूँ।” पुरुरवा ने सभी को अग्नि के रहस्य बताए।

“अग्नि से प्रकाश के उपरांत ऊष्मा भी मिलती है। हिंसक पशुओं से रक्षण मिलता है। वह हवा को शुद्ध करता है। फलों को अग्नि में तापने से फल अधिक मीठे लगते हैं।”

अग्नि के विषय में जानकर भार्गव अधिक ईर्ष्या में जलने लगा। वह सत्य को जानता था, समजता था किन्तु ईर्ष्या के कारण स्वीकार नहीं पा रहा था।

सभी निश्चिंत होकर अग्नि के संरक्षण में सो गए किन्तु भार्गव का मन उसे निंद्रा से दूर और उस अग्नि के समीप ले गया।

उसने अग्नि का पूरा पूरा निरीक्षण किया। वह उसके अधिक समीप गया। उसने अग्नि का ताप अनुभव किया। अग्नि को पकड़ने के प्रयास में उसे हाथों में पीड़ा होने लगी। पीड़ा से वह दु:खी होने के स्थान पर प्रसन्न हो गया। उसके हाथ अग्नि की एक त्रुटि लग गई थी।

उसने एक बड़ी सी सुखी डाली अग्नि में डाली। डाली में भी अग्नि जलने लगा। सोचते हुए वह अग्नि को देखने लगा। कुछ भी समज नहीं आने पर जलती डाली को दूर फेंक दिया। वह एक वृक्ष पर जा गिरी। कुछ ही समय में वह वृक्ष अग्नि से जलकर नष्ट हो गया। वह प्रसन्न हो गया। उसे अग्नि की दूसरी त्रुटि मिल चुकी थी।

प्रसन्न होता हुआ वह जलती डाली लेकर अरण्य की तरफ जाने लगा। एक हिंसक पशु ने उस पर आक्रमण किया। उसने जलती डाली से उस पर प्रहार किया। वह पशु परास्त हो गया। अग्नि में जलकर मृत हो गया। अपनी विजय पर भार्गव प्रसन्न हो गया। वह सूर्योदय की प्रतीक्षा करने लगा।

सूर्योदय हुआ। सभी गुरु की निश्रा में बैठे थे। गुरु कुछ भी बोले उससे पूर्व ही भार्गव बोलने लगा, "गुरु जी। पुरुरवा ने अग्नि के सभी लाभ तो बताए किन्तु मैं अग्नि की त्रुटि, अग्नि से होनेवाली क्षति के विषय में जो जानता हूँ वह बताता हूँ। पश्चात आप भी कहोगे कि अग्नि की खोज करके पुरुरवा ने बड़ी भूल की है।"

शांत चित्त से गुरु ने कहा, "भार्गव, प्रत्येक बात की सुंदरता और कुरूपता दोनों होती है। तो अग्नि की भी त्रुटि होगी ही। तुम जो जानते हो वह हम सब को भी कहो।"

भार्गव इसी प्रतीक्षा में था।

"अग्नि में हाथ डालने से हाथ जल जाते हैं। हाथ नष्ट भी हो सकता है। अग्नि अपने स्वभाव से शरीर को तपाता है जिससे शरीर को कष्ट सहना पड़ता है।"

अग्नि से जले वृक्ष की तरफ संकेत करते हुए वह आगे कहने लगा, "देखो, यह वृक्ष कल रात तक कितना हर भरा था! किन्तु वह अब अग्नि से नष्ट हो गया। अग्नि पूरे कानन को जला सकता है। अरण्य का नाश कर सकता है। वन यदि नष्ट हो गए तो हमारा जीवन कितना कष्ट से भर जाएगा वह हम सब जानते ही हैं।"

सभी भार्गव की बातों से प्रभावित हो गए। गुरु, त्रिया और पुरुरवा निरपेक्ष भाव से सब देख रहे थे। मौन थे। इससे भार्गव का आत्मविश्वास बढ़ गया। उसे अपनी विजय दिखने लगी। अग्नि से मृत उस पशु की तरफ संकेत करते हुए वह कहने लगा।

"अग्नि का उपयोग हिंसक पशुओं को डराने के शस्त्र के रूप में भी हो सकता है। वह पशु अग्नि के कारण ही मृत हो गया है। मुझे तो विश्वास ही हो गया है कि

मेरे पर प्रयोग करने के लिए ही पुरुरवा ने इस अग्नि नाम के शस्त्र की खोज की है।"

सुनते ही सब एक साथ चीत्कार उठे, "भा ..र्ग ...व।"

चीत्कार से भार्गव स्तब्ध हो गया।

"भार्गव, त्रुटियों के स्थान पर गुणों को स्वीकारने का प्रयत्न कर। सत्य को स्वीकार कर। यह अग्नि मानव की प्रथम सबसे बड़ी खोज है। तू यह जानता ही है किन्तु स्वीकार नहीं कर सकता क्यों कि यह खोज पुरुरवा ने की है। किन्तु केवल इसी कारण से अग्नि की खोज को ठुकरा तो नहीं सकते?" गुरु ने कहा।

"आप सभी को स्वीकार करना हो तो करो। मेरा तो स्पष्ट मत है कि अग्नि की अनेकों त्रुटियाँ हैं। अग्नि ही मानव के पतन का कारण होगा। वह विनाशक है। उससे सभी नष्ट हो जाएगा। यदि हमें प्रलय से बचना है तो अग्नि की खोज को भूलना होगा। उसे यहीं रोक दो।"

"भार्गव।" क्रोधित गुरु के शब्द वातावरण में गूँजे, "तेरी इस धृष्टता क्षमा के योग्य नहीं है। तेरे इस व्यवहार के लिए तू मेरे शाप का भोग बनेगा। मैं शाप देता हूँ कि तू कभी भी सत्य को, गुणों को समजते हुए भी स्वीकार नहीं कर पाएगा। तू कभी भी कुछ नया खोज नहीं पाएगा। तू केवल त्रुटियाँ ही देखेगा। सत्य को देखने की दृष्टि ही नहीं होगी तेरे पास।"

पुरुरवा ने गुरु को शांत किया। उसने भार्गव के लिए क्षमा मांगी। शाप से मुक्ति का उपाय मांगा।

"जो लोग कुछ खोज नहीं पाते वे ही अन्य की निंदा करते है। लाभ के स्थान पर हानि, गुणों के स्थान पर त्रुटियाँ खोजते रहते हैं। वे सदैव नकारात्मक ही रहते हैं। तथापि भार्गव को मेरे शाप से मुक्ति चाहिए तो उसे कुछ नया खोजना पड़ेगा। जब वह कुछ नूतन खोज करेगा तभी वह इस शाप से मुक्त हो पाएगा।"

युगों बीत गए। प्रत्येक युग में पुरुरवाएं नई खोजों को करते रहे। प्रत्येक खोज पर भार्गवें टिकाएं करते रहे। समय रहते वे भी उसी खोज के दास बनते रहे। किन्तु कभी भी कुछ भी नया खोज नहीं पाए।
गुरु का शाप आज भी प्रवर्तमान है।
गुरु के शाप से मुक्त होने के लिए ओ भार्गवों, प्रयास तो करो। कुछ खोजकर तो देखो।

****

[3] इन भवरों का क्या?

अजय ने अपने दाहिने हाथ में एक पत्थर लिया और हिमालय की पहाड़ियों से होकर संगीत की सुरावलियों की भांति अविरत बहते झरने के नीचे गिरकर शांत हो गए जल में फेंकने के लिए हाथ ऊपर किया। पूरी ऊर्जा, पूरा उत्साह को हाथों के कंधों में केंद्रित कर हाथ में रखे पत्थर को फेंककर उसमें भंवर जगाने की इच्छा से हाथ को पीठ के पीछे ले गया। पत्थर फेंकने के लिए जैसे ही हाथ को आगे लेने लगा तभी आनंद ने अजय के हाथ को पकड़ लिया।

अजय जानता था कि आनंद उसे पत्थर फेंकने से रोक ही लेगा इसलिए उसका हाथ रुक गया। अजय घुमा और आनंद से आँखें मिलाई। दोनों ने स्मित का आदान प्रदान किया, आँखों से कुछ बात हुई।

अचानक आनंद ने अजय का हाथ छोड़ दिया। आँख के संकेत से पत्थर फेंकने की मौन सम्मति मिली हो ऐसे अजय ने भी हाथ छुड़ा लिया। समस्त ऊर्जा से पत्थर को उस शांत जल में फेंक दिया।

उसके फेंकने में इतना बल था कि मानो वह अपने भीतर चल रही उथल पुथल को एक झटके से अपने भीतर से खींचकर बहार निकाल देना चाहता हो, पूर्णत: रिक्त हो जाना चाहता हो!

वह पत्थर, शांत जल में गिरा। उसमें असंख्य भंवर उठने लगे। अजय उन भँवरों को देखता रहा।

भंवर क्षण भर में शांत हो गए। सब कुछ शांत हो गया। झरने उसी धैर्य से बहने लगे। जल अपनी गहनता और विशालता से पुन: शोभित होने लगा।

वे तो जल के भंवर थे। जिसे उठने में भी समय नहीं लगता न ही शमन होने में। किन्तु मानव मन में, मानव ह्रदय में उठते भंवर ऐसे थोड़े ही शांत हो जाते हैं?

अजय की भी वही स्थिति थी। मन के भीतर, ह्रदय की अतल गहनता में कुछ उबल रहा था जो अनेक तरंगों को, अनेक भँवरों को उत्पन्न कर रहा था। पूरे बल से पत्थर फेंककर मन के उन भँवरों को भी फेंक देने का प्रयास सदैव विफल ही रहता। प्रत्युत, भंवर अधिक से अधिक मन को अपने में लपेट लेता। यही कारण था कि आनंद उसके हाथ को रोकता, पश्चात मौन सम्मति भी दे देता।

पिछले पाँच छः महीनों से यह दृश्य मैं प्राय: प्रति दिन देखता रहा हूँ।

हिमालय की उत्तुंग पहाड़ियों के मध्य बसे देहरादून के मेरे अस्थायी निवास से प्रतिदिन संध्या के समय जब मैं प्रकृति के सानिध्य में खो जाता हूँ तब घर के सामने ही थोड़ी दूर पर बहते झरने के साथ अजय और आनंद की इस क्रीडा को देखता आया हूँ।

अजय और आनंद, देहरादून की पेट्रोलियम यूनिवर्सिटी के एंजिन्यरिंग के प्रथम वर्ष के छात्र। कॉलेज से समय मिलते ही संध्या समय पर दोनों उस झरने पर आकर बैठ जाते।

दोनों सदा साथ ही होते थे किन्तु दोनों पूरी तरह से विपरीत व्यक्तित्व और स्वभाव के।

अजय।

अति चंचल। सदा उत्साह से भरा। जल के साथ जैसे किसी पिछले जन्म का कोई बैर हो ऐसे उसमें पत्थर फेंका करता और शांत जल को अस्थिर करता रहता।

आनंद।

शांत और धैर्यवान।

पूरे धैर्य के साथ आकाश, पर्वत, मेघ, हिम, झरने आदि को निहारता रहता। बहते जल को स्पर्श करने का भी प्रयास न करता। उसे कहीं यह भय तो नहीं कि जल को स्पर्श करने से उसका प्राकृतिक सौन्दर्य का कौमार्य भंग हो जाएगा। और उसके लिए वह अपने पर किसी भी दोष को लेने के लिए तैयार ही नहीं।

दोनों को देख ऐसा ही प्रतीत होगा कि दोनों जन्म से ही ऐसे होंगे। एक बहता झरना तो दूसरा पहाड़ों पर योगी सा स्थित हिम!

मैंने भी यही मान लिया था जब मैंने उन्हें पिछले अगस्त में प्रथम बार देखा था। मुझे उनके विरोधी व्यक्तित्व में रुचि होने लगी थी तभी तो मैंने उनके साथ जुडने का मन बना लिया और उनसे मिलकर कर ली मित्रता। गहन मित्रता!

जब मैंने उनके विषय में जानने का प्रयास किया तो ज्ञात हुआ कि मेरी धारणा पूर्ण रूप से मिथ्या थी।

अजय, भारत के पश्चिम छोर पर स्थित भगवान श्रीकृष्ण की नगरी द्वारका का निवासी। समुद्र के प्रति, बहते जल के प्रति जन्म से ही मुग्ध भाव। अध्ययन में तेज। लिखना पढ़ना उसे पसंद था। स्वभाव से ही शांत और सरल।

हिमालय को अनेक पुस्तकों में पढ़ा था, जाना था। तभी तो उसे हिमालय का असीम आकर्षण!

हिमालय का प्रत्यक्ष अनुभव करने की मनसा से ही उसने देहरादून की इस कॉलेज चुनी थी। हिमालय से मिलना है, उसके साथ रहना है यह जानकर उसके भीतर प्रसन्नता का प्रपात बहने लगा।

वर्षों से शांत और सरल स्वभाव की उसकी छबि को किसी ने पत्थर मारकर कांच तोड़ डाला हो और कांच चूर चूर हो गया हो ऐसे क्षणभर में ही टूट गई, बिखर गई। चंचलता, यौवन और नटखटपन कहाँ से आकर उसके व्यक्तित्व का रूप बन गया उसका उसे भी ध्यान न रहा। हिमालय के प्रेम में वह पूरा बदल गया। शांत जमा हुआ हिम, प्रपात बनकर बहने लगा।

आनंद का भी कुछ ऐसा ही था।

दक्षिण भारत के नगर कालीकट का निवासी आनंद! जन्म से ही अत्यंत चंचल, चपल! अध्ययन के साथ अन्य प्रवृतियों में भी विजेता। उसके पराक्रम से पूरे नगर को परिचय।

मस्तियाँ करता रहता किन्तु कभी किसी को क्षति नहीं पहुंचाता। उसे भी पढ़ने में बड़ी रुचि। हिमालय से उसे भी उतना ही आकर्षण।

हिमालय की विशालता, उसकी उत्तुंग पहाड़ियों पर जमी हिम, गंगा की पवित्रता, बहते झरने, गिरते प्रपात आदि ने उसके मन को वश में कर लिया।

हिमालय का साथ होगा यह जानकर नटखट, चंचल आनंद उसके शरीर को छोड़कर कहीं चला गया और एक धीर गंभीर, शांत, ठहराव वाले आनंद का जन्म हो गया।

हिमालय है तो एक ही किन्तु उसका प्रभाव कितना भिन्न भिन्न? मनुष्य के व्यक्तित्व को कैसे पलट देता है, क्षण ही में!

व्यक्तित्व के विरोधी अंतिमों जैसे अजय और आनंद देहरादून आकर मिले और उसी समय से बन गए गहरे मित्र। मित्रता तो ह्रदय से होती है और दोनों के ह्रदय में बस्ते थे समुद्र और हिमालय। तभी तो विपरीत स्वभाव होते हुए भी दोनों बन गए अटूट मित्र।

मुझे उनका इस प्रकार प्रतिदिन आना अच्छा लगने लगा। मैं पर्यावरण विज्ञानी और वे दोनों पेट्रोलियम के विद्यार्थी।

मित्रता होते ही हमारे मध्य आयु और व्यक्तित्व की सीमाएं पिघल गई। उन दोनों से मैं आयु में पंद्रह वर्ष बड़ा था। किन्तु मित्रता में यह कभी बाधा नहीं बना। यही तो स्वभाव है मित्रता का। किसी से करके तो देखो।

संवाद का नियम है कि यदि आपको योग्य संवाद करना हो तो संवाद स्वीकारनेवाले व्यक्ति की ऊंचाई तक, उसके स्तर तक जाना होगा। यदि संवाद देनेवाला और लेनेवाला एक ही स्तर पर, एक ही ऊंचाई पर हो तो बाकी सभी दीवारें गिर जाती हैं और बहता है केवल निर्मल संवाद।

हम तीनों को एक दूजे का साथ अच्छा लगने लगा। हिमालय, गंगा, समुद्र, यंत्र, खेल कूद, राजनीति, अर्थव्यवस्था जैसे अनेक विषय देह रूप लेकर जुड़ जाते थे हमारी गोष्ठी में।

हमारी गोष्ठी होती किसी भी दंभ के बिना, आवरण के बिना। ह्रदय को अनावृत करना हमारे लिए सहज हो गया।
मित्रता की यही परम सीमा होगी? जिसके साथ, जिसके सम्मुख मन की सभी परतें खोलकर अनावृत होने का मन हो वही मित्र।
बातों बातों में समय बह गया। शीत ऋतु आ गई। जनवरी भी पूरा होने को आ गया। असीम हिम भी बरस गया।
मेरा कार्य पूर्ण होने में दो ही महीने शेष रह गए थे। मैं उसे पूरा करने के कार्य में डूब गया।
एक दिन अचानक मेरे ई मेल के इन बॉक्स में एक मेल आया। आसाम के गौहाती नगर से एक कॉलेज के प्रिंसिपाल डो बरुआ ने प्रेषित किया था वह।
“श्री प्रशांत जी, आपके पर्यावरण पर आधारित प्रकल्प के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हुई है। आपके प्रकल्प को समजने के लिए हमारी कॉलेज से कुछ श्रेष्ठ विद्यार्थियों को प्रकल्प प्रवास के लिए आपके पास देहरादून भेजना चाहता हूँ। यदि आपको असुविधा न हो तो सम्मति प्रदान कीजिए।”
पढ़कर मैं अत्यंत उत्साहित हो गया, रोमांचित भी! देश के किसी कोने में मेरे कार्य का किसी को संज्ञान है, कोई प्रभावित है, यह जानकर!
मैंने यह बात अजय और आनंद को बताई। सुनते ही अजय ने तो ई मेल मे ही उत्तर दे दिया, “मेरी सम्मति है। कृपया अनुकूल दिनों के साथ पूरा विवरण प्रेषित कीजिए।”
मेरे लिए कोई विकल्प ही न रहा। फरवरी के मध्य में तो छब्बीस विद्यार्थी आ गए देहरादून में मेरे अतिथि बनकर। उस दल में लड़कों की अपेक्षा लड़कियां अधिक थी। उन सब की पर्यावरण जागरूकता देखकर मुझे प्रसन्नता हुई।
वह दल चार दिन रुका। मेरे प्रकल्प के सभी पक्षों की विस्तृत जानकारी लेकर, संतुष्ट होकर गौहाटी के लिए निकल भी गया।

इन चार दिनों में मुझे अजय और आनंद का पूरा सहयोग मिला। सब कुछ कब और कितनी सरलता से सम्पन्न हो गया वह मैं भी नहीं जान सका। मित्र साथ हो तो प्रत्येक घटना उत्सव बन जाती है।

उत्सव की दौड़ धूप के चार दिनों के पश्चात खाली समय मिला था। संध्या भी हो रही थी। मैं अपने कक्ष से बाहर आकर बैठा। नित्य की भांति अजय और आनंद के आने की प्रतीक्षा करने लगा।

कुछ ही क्षणों में नित्य क्रम से उनको आते देखा। वही झरना और वही दोनों। अजय ने नित्य की भांति नीचे झुककर हाथ में पत्थर लिया। अभी हाथ ऊपर उठेगा और जल में पत्थर मारेगा। नित्य की भांति आनंद उसे रोकने का यत्न करेगा, अजय मुड़कर देखेगा, आनंद से नयन मिलते ही स्मित करेगा। आँखों से ही मौन बात होगी और आनंद की मौन सम्मति मिलते ही वह पत्थर अजय के हाथ से छूटकर बहते जल में गिरेगा, भंवर उठेंगे और शांत हो जाएंगे।

किन्तु मेरी धारणा आज पूरी तरह से मिथ्या हो गई, प्रथम बार।

अजय के हाथ में पत्थर तो था किन्तु उस हाथ में वह ऊर्जा, वह उत्साह कहीं नहीं थे। उसके चलने में भी कोई उमंग नहीं!

यंत्रवत उसने हाथ ऊपर तो किया किन्तु उसमें कहीं भी पत्थर फेंकने की इच्छा नहीं दिख रही थी। उसने अपने हाथ को यूं ही हवा में उठाये रखा, इस अपेक्षा से कि आज भी उसका हाथ पकड़कर आनंद उसे रोके। उसने मन बना लिया कि - 'जैसे ही आनंद उसे रोकेगा, वह पत्थर छोड़ देगा। आज नहीं फेंकना है पत्थर उस शांत जल में। असंख्य भंवर जगाकर शांत जल को कितना कष्ट दिया है उसकी कोई गिनती ही नहीं है। किन्तु अब बस, नहीं फेंकना है पत्थर।'

किन्तु आनंद ने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया अजय के उठे हुए हाथ को रोकने का। अजय से रहा न गया। उसने मुड़कर आनंद को देखा।

आनंद दूर खड़ा था। उसके हाथ में एक पत्थर था। आनंद ने अपने दाहिने हाथ को उठाकर पूरी ऊर्जा के साथ पत्थर फेंक दिया जल में!

हाथ किसी का भी हो, जल के भाग्य में तो भंवर ही लिखे हैं। मैं और अजय देखते रहे जल मे उठे भँवरों को।

कैसा विपरीत संयोग है? आज अजय शांत और आनंद चंचल हो गया!

अभी कुछ और समज आए उससे पूर्व ही आनंद ने दूसरे दो चार पत्थर फेंक दिये और जल में भँवरों की शृंखला उत्पन्न होने लगी, मन में भी।

आनंद ने पत्थर फेंकने के लिए पुन: हाथ उठाया। अजय दौड़ गया, पकड़ लिया आनंद के हाथ को। आनंद ने अजय से दृष्टि मिलाई। स्मित के साथ नयनों से संकेतों की बात हुई। अजय ने आनंद का हाथ छोड़ दिया, और पत्थर पुन: उत्पन्न करने लगा भँवरों को।

मेरे लिए यह पूर्ण रूप से अपेक्षा से विपरीत था। अजय और आनंद के व्यक्तित्व परस्पर बदल गए थे। यह मेरे लिए नया था, समज से परे था।

दोनों एक दूसरे को देखने लगे। और खुलकर हंसने लगे। पश्चात अचानक ही दोनों गंभीर हो गए।

व्यक्तित्व में हुआ परिवर्तन दोनों को भाने लगा था किन्तु मन दोनों का व्यग्र था। मन कुछ अधूरा सा, अपूर्ण सा अनुभव करने लगा। किन्तु मुझे तो मन से भी और हृदय से भी यह परिवर्तन अपरिचित लगने लगा।

मैं दौड़ गया उनके पास। दोनों की आँखें मेरी आँखों में रहे आश्चर्य को देखती रही। मुझे उन आँखों में किसी अपरिचित प्रश्न की आकृति दिखने लगी।

क्षण में ही वह आकृति शब्द बनकर उनके मुख से प्रकट हो गई।

“प्रेम हो जाए जिसे वह मनुष्य कैसा हो जाता है?”

क्षण में ही मैं जान गया कि दोनों को प्रेम हो गया है। किन्तु किससे?

मेरे मन में अनेक विकल्प आने लगे। संभवत: कॉलेज की किसी कन्याओं से?

कुछ भी समज आए उससे पूर्व आनंद के मोबाइल में घंटी बजी। गौहाटी से बजी थी वह घंटी। आनंद ने घंटी से स्वयं को जोड़ा। किसी युवती का स्वर सुनाई दिया।

आनंद संकोच के साथ बात करने का प्रयास करता रहा, उस छोर से संपर्क टूट गया।

अजय ने अपने मोबाइल को देख लिया, कोई घंटी वहाँ नहीं बजी थी किन्तु उसकी आँखों में किसी की प्रतीक्षा स्पष्ट नाच रही थी।

मैं समज गया कि गौहाटी से आई कॉलेज कन्याओं में से किसी कन्याओं ने दोनों पर प्रेम की वर्षा कर दी है। मेरा मन पुन: उस पूछे गए प्रश्न का उत्तर खोजने में लग गया।

"प्रेम हो जाए जिसे वह मनुष्य कैसा हो जाता है?"

मेरे मनोपटल पर से पिछले सात आठ महीनों से अजय-आनंद के साथ व्यतीत किया समय वायु वेग से यात्रा करके बह गया। मुझे उत्तर मिल गया।

मैंने दोनों को देखा। अभी भी दोनों की आँखों में वही प्रश्न क्रीडा कर रहा था।

"प्रेम हो जाए वह मनुष्य कैसा हो जाता है?"

मैं उत्तर देने लगा, "जिसे शुद्ध प्रेम हो जाए वह मनुष्य निर्विकार हो जाता है। सभी आवरण गिर जाते हैं। मनुष्य अपने मूल रूप को पा लेता है।"

मेरा उत्तर मिथ्या होगा या उसकी अपेक्षा से भिन्न, दोनों मुझे अन्यमनस्क दृष्टि से देखते रहे। मैं उन्हें ताकता रहा।

कुछ समय बीत गया, यूं ही।

अजय ने मौन तोड़ा, "क्या प्रेम हमारे भीतर के भँवरों का शमन कर देता है? भीतर की व्याकुलता को, उद्विग्नता को शांत कर देता है?"

कोई उत्तर मेरे भीतर जन्मे उससे पूर्व आनंद बोल पड़ा, "क्या प्रेम हमारे भीतर भंवर सर्जता है? हमें भीतर से विचलित कर देता है?"

दोनों के प्रश्न स्पष्ट थे- प्रेम भंवर उत्पन्न करता है या भँवरों को शांत कर देता है? भीतर सब कुछ शांत कर देता है या नई अशान्ति उत्पन्न कर ह्रदय को विचलित कर देता है?

निरुत्तर मैं देखता रहा दूर हिम जमे पहाड़ को। मेरे पास उन प्रश्नों का कोई उत्तर न था।

आपके पास है?

****

[4] इस नगरी : उस नगरी

जानकी अकेली हो गई। विहंग अभी अभी तो गया था। पिछले कई दिनों को विहंग के साथ मन भर भोगा था। समय की एक एक क्षण को भरपूर जिया था। और अब विहंग के जाने से अचानक ही नि:शब्दता व्याप्त हो गई। मन भर मेले के कोलाहल का आनंद लेने के पश्चात मेले से बिछड़ गई हो ऐसा प्रतीत होने लगा उसे।

एकांत उसे असह्य हो गया।

वह इधर उधर घूमने लगी। गवाक्ष के समीप आकर रुकी। दूर दूर जहां अवनी और व्योम मिलते हैं वहाँ अनिमेष नयनों से देखने लगी।

उसे क्षितिज में किसी आकार - किसी घटना को रचकर उसमें खो जाने की मनसा थी। किन्तु वही घटना, वही आकार क्षण में ही उसे छलकर सूरज के पार निकल जाते थे। वास्तविक एकांत उसे परास्त कर गया।

गवाक्ष छोड़ वह शैय्या पर आ गई। उसका ध्यान टेबल पर गया। वहाँ केमरा था। उसे उठाकर उसके लेंस को अपनी आँख पर रखा। उसमें उसके सम्मुख दृश्य उभर आया। यह केमरा उसे विहंग से मिला प्रथम उपहार था, प्रथम मिलन पर।

प्रथम मिलन! ओह, कैसी थी वह क्षण? किन्तु उसे कुछ भी स्मरण हो आए उससे पूर्व वह दृश्य भी अन्य दृश्यों की भांति हाथ से सरक गया।

पुन: एकांत।

एकांत का वह समय उसे क्षण क्षण से बने पहाड़ जैसा लगा। जिसके इस पार वह है, अकेली। और उस पार है विहंग।

विहंग तो होगा भीड़ के साथ, कोलाहल के साथ, मनुष्यों के साथ। और मैं?

एक क्षण तो उसे एकांत के पहाड़ को चीरकर भाग जाने का- दौड़ जाने का मन हुआ।
दूसरी ही क्षण भीतर से प्रश्न उठा, “कहाँ दौड़ जाएगी?”
“इस नगरी में।”
एक अट्टहास उसके कानों पर गुंजा, “तू इस नगरी में जाएगी? इस नगरी से कहाँ कोई परिचय है तेरा? नगरी में किसी के भी साथ कहाँ परिचय है? तो जाएगी कहाँ? स्मरण है तुझे, इस नगरी में प्रथम बार आई थी तब क्या हुआ था? कैसा विचित्र लगी थी यह नगरी? स्मरण कर, स्मरण।”
वह अट्टहास का प्रतिघोष भी हाथ से छूटकर दूर- सुदूर विलीन हो गया। वह उसे दूर तक देखती रही पश्चात उस छाया की गूंज का पीछा करना छोड़ दिया।
खो गई वह विहंग के साथ नगरी प्रवेश की घटनाओं की स्मृतियों में।
अभी कुछ दिन पूर्व ही विहंग से विवाह कर वह इस नगरी में आई थी। वह इस नगरी में वर्षों से रहता था। वह जब इस नगरी की बातें करता तब जानकी को उसकी बातें अनोखी प्रतीत होती थी। कुछ समज न आए ऐसी विचित्र बातें थी उसकी। उसका व्यक्तितत्व भी अद्भुत था। उस व्यक्तितत्व से खींचकर तो वह इस नगरी तक आ चुकी थी।
नगरी प्रवेश से ही आश्चर्य होने लगे थे।
बस से उतरकर उसने बस स्टेशन पर दृष्टि डाली। उसे था कि बस स्टेशन अर्थात चारों तरफ अस्त व्यस्त पटकी हुई बसों का ढग, कोई भरी तो कोई खाली। घंटों से अपने गाँव की बस की प्रतीक्षा में स्थिर सा प्रतीति होता चींटियों जैसा जन समूह। खाखी वस्त्रों मे सज्ज ड्राइवर-कंडक्टर और कुछ पुलिस। यात्रिकों से अधिक उनके साथ यात्रा को उत्सुक सामान का ढेर। जैसे पूरे घर को रिक्त कर बंजारों की भांति भटकते लोग!

किसी बस के आते ही उसमें से टूटे हुए कांच के पात्र से बह जाते जल की भांति नीचे उतरते लोग। और गुब्बारे में बल पूर्वक भरी जाती हवा की भांति बस में ठूँसे जाते लोग।

ना।

ऐसा कुछ भी यहाँ जानकी ने नहीं देखा। उसे आश्चर्य और उत्सुकता एक साथ हुए। उसके मन में अनेक कौतुक उभर आए। वह बस स्टेशन को ध्यान से निहारने लगी।

यहाँ कहीं भी बसों का जमघट नहीं था। समय होते ही एक बस आती, उसमें कुछ लोग प्रवेश करते, शीघ्र ही बस चल पड़ती। स्टेशन पूरा खाली हो जाता।

बस की प्रतीक्षा में त्रस्त मानव समूह भी नहीं।

यहाँ अति अल्प यात्रिक आते हैं। उनके पास न तो कोई सामान है न ही कुछ और जिसे लेकर उसे यात्रा करनी पड़े।

खाखी वस्त्रों वाले ड्राइवर कंदकटर के स्थान पर बालक सा निर्दोष स्मित लेकर एक व्यक्ति आता है और बस को ले जाता है। परिजनों को विदा करने के लिए आते व्यक्तियों का भीतर प्रवेश निषेध। वे बाहर से ही जाती हुई बस को हाथ हिलाकर विदा कर देते हैं।

जानकी को था कि विहंग इतने वर्षों से यहाँ रह रहा है तो अवश्य ही उसके अनेक मित्र भी होंगे जो उसे लेने को स्टेशन पर आएंगे। किन्तु न तो कोई मित्र लेने को आया, न ही किसी ने उनके आगमन पर ध्यान दिया।

वह पूछ बैठी, “विहंग, यहाँ के लोगों के हृदय में भावनाएं जैसा कुछ है भी?”

हंस पड़ा था विहंग, “इस नगरी के लोगों को व्यर्थ भावनाओं में रुचि नहीं है। उन्हें काम, काम और केवल काम में रुचि है। समय को वे व्यर्थ नष्ट नहीं करते। सब अपनी धुन में मगन हैं। प्रत्येक को अपना लक्ष्य है, उद्देश्य है। उसके अतिरिक्त उसे कोई चिंता, कोई भावना नहीं है। तथापि मनुष्यत्व को कभी नहीं चुके। उन्हें भावनाओं का मोह नहीं है, तभी तो वे सुखी हैं, स्वस्थ है।”

दोनों आगे बढ़े। घर जाते मार्ग में राजमार्ग आए। व्यापक और विशाल। बहती नदी की भांति थोड़े थोड़े अंतर पर मूड जाते थे या एक दूसरे को नब्बे अंश पर काटते थे। उनके दोनों तरफ उगे बड़े बड़े वृक्ष देखकर जानकी को लगा कि उनके पीछे घना अरण्य छिपा होगा।
नहीं। वहाँ गहन अरण्य के बदले नगरी में प्रवेश करने की दिशा में दोनों तरफ उद्यान थे। उसे तीव्र इच्छा हो आई उद्यान में जाकर पुष्प तोड़कर उसे सूंघ लेने की।
वह घर की तरफ मुड़ी।
इस नगरी में बाहर से आनेवाली जानकी प्रथम स्त्री थी। यहाँ की स्त्रीयां बाहर, अन्य नगरों में जाती थी किन्तु यहाँ अन्य नगरों से कभी कोई स्त्री विवाह करके नहीं आई। नगरी से बाहर की स्त्री के साथ विवाह करनेवाला विहंग प्रथम पुरुष था। तथापि जैसे कुछ भी हुआ न हो ऐसे किसी ने जानकी के आगमन पर ध्यान ही नहीं दिया।
विहंग तो निरपेक्ष भाव से जी रहा था, किन्तु जानकी इन आश्चर्यों को समजने में उलझ जाती।
विहंग के साथ जीवन चलने लगा। विहंग के अवकाश के दिन पूरे हो गए। वह काम पर लग गया। तभी तो जानकी एक रिक्तता का अनुभव कर रही थी।
आगमन के साथ देखि विचित्रताओं के पश्चात वह नगरी में गई ही नहीं थी। तभी तो एकांत की इन क्षणों में वह सब बातें एक साथ मन पर आ बैठी। एक असह्य भार उसको घिरने लगा। वह विचलित होने लगी।
उसके मन ने उसे उकसाया, "अभी इस नगरी को पूरी देखि ही कहाँ है? विहंग तो संध्या होते आएगा। तब तक इस एकांत से उलझने के बदले निकल पड इस नगरी को देखने। उसके कोने कोने से तुझे आमंत्रण है। जा, जा।"
मन की आज्ञा को उसने यंत्रवत स्वीकार किया। निकल पड़ी घर से बाहर। उन उद्यानों के आकर्षण से खींची जानकी वहीं जा पहुंची।

उद्यान में प्रवेश करते ही वह चौंक गई। उसमें केवल बच्चे थे। वह द्वार पर ही अटक गई। कुतूहल से बच्चों को देखने लगी।

'बालकों के लिए यहाँ स्वर्ग है। दूर दूर तक खिले हुए, रंग सुगंध से भरे पुष्प ही पुष्प। और उनके मध्य जगत के निर्माता के पुष्प जैसे हँसते, कूदते, नाचते, क्रीडा करते बच्चे ही बच्चे।'

जानकी ध्यान से सभी को देखने लगी।

'यहाँ बच्चों में कोई भेद नहीं दिखता। दरिद्र या समृद्ध सभी एक साथ हैं। ज्ञाति, जाती, धर्म, भाषा, प्रदेश जैसे बंधनों से मुक्त। संसार के सभी बंधनों से अज्ञात, निश्चिंत और अपनी ही धुन में मगन हैं ये सब। प्रकृति का यह रूप ही इनकी भाषा प्रतीत होती है।'

उसने बच्चों की क्रीडा पर ध्यान दिया।

'यहाँ कोई नियम या बंधन नहीं है कि यह खेल खेलों या वह क्रीडा न करो। खेलते खेलते गिर जाने के या चोट लगने के भय से भी ये अज्ञात हैं। तभी तो क्रीडा के मूल आनंद को पा सके हैं ये सब।'

वह बच्चों को देखती जा रही थी और मन ही मन बोले जा रही थी।

बच्चों को देखकर उसके हृदय के उपवन का द्वार भी खुल गया।

'मैं स्वयं एक उपवन हूँ। मेरे भीतर की सभी नसों में अनेक रंगबिरंगी पुष्प उग गए हैं। उसमें बच्चे दौड़ रहे हैं, हंस रहे हैं, क्रीडा कर रहे हैं।'

उसका मुख बच्चों की कल्पना से लज्जा से लाल हो गया। उसे अपने भीतर कुछ उग रहा है ऐसा आभास हुआ। वह उस स्वप्न में खो जाना चाहती थी तभी किसी ने उसका हाथ पकड़ लिया।

वह एक बालक था।

"क्षमा करना, आप यहाँ भूल से आ गए लगते हो। यहाँ केवल बच्चे ही आ सकते हैं, बड़े नहीं। आप यहाँ से चले जाइए।"

अपने स्वप्न में थोड़ी सी भीगी जानकी स्वप्न से कोरी ही जाग गई।

‘क्या मैं बड़ी हो गई हूँ? मैं अभी भी बच्ची होती तो? मन करता है बालक बन इस उपवन के अणु अणु में घुल जाऊं। किन्तु अब वह कहाँ संभव है?’ उसने एक गहरी सांस ली और छोड़ दी।

“तो बड़ों के लिए कौन सा स्थान है?” जानकी ने बालक को पूछा।

बालक ने मार्ग के सामने की दिशा में संकेत किया। वह यंत्रवत उस तरफ चली। मार्ग पार कर उस तरफ आ गई। किन्तु इतना मार्ग पार करते करते उसे अति श्रम हुआ। बचपन पीछे छूट गया, जैसे सब कुछ छूट गया हो और वह रिक्त हो गई हो।

‘बड़ों का प्रवेश वहाँ क्यों नहीं है? क्या यह नियम भी बड़ों ने बनाया होगा? या इन बालकों ने? क्यों ऐसा नियम होगा? और उसका अनुपालन? पूरा पूरा अनुपालन? इतना पूरा अनुपालन कहीं नहीं होता होगा।

बड़ों का स्वभाव होता है बालकों को बिना कारण सूचनाएं देना, भावनाओं के बहाने मिथ्या बंधन खड़े करना। क्या यही उसका बड़प्पन होता है? यही कारण तो नहीं कि बालक कभी पूर्ण रूप से, नैसर्गिक रूप से विकसित ही नहीं हो पाते?’

उसे अपना घर स्मरण हो आया। बचपन भी।

‘एक बार खेलते खेलते मैं पिप्पल के वृक्ष पर चड गई थी। पिताजी को जब इसका संज्ञान हुआ था तो वे कितना क्रोधित हो गए थे? दुनिया भर की बातें कहकर माँ को भी अनेकों सूचनाएं दी थी। पश्चात उसके, मेरा खेलना - कूदना पूरी तरह से बंद हो गया था। तब से आज तक किसी भी पेड़ पर कहाँ चडी हूँ मैं?’

उसके भीतर कुछ चुभने लगा। ‘तीव्र इच्छा हो रही है दौड़कर पेड़ पर चड जाने की। किन्तु केवल इच्छा से क्या होगा? इस काया में अब इतनी ऊर्जा भी कहाँ रही है? और उस पर यह अज्ञात नगरी!’

शीघ्रता से बढ़ती जाती इच्छा की डाली को उसने एक ही झटके से काट डाली। किन्तु विचारों के वन को वह उजाड़ न सकी।

‘बड़े सभी ऐसे क्यों होते हैं? क्यों बालकों को बंधन में डाल देते हैं? किन्तु इस नगरी में उससे विपरीत ऐसा विचार किसे आया होगा? कब से यह सब चल रहा होगा? चल लौट जाती हूँ उस छूटे हुए उपवन के पास।’

वह लौटने के लिए चली तब उसने किसी विशेष सुरभि का अनुभव किया। उसने देखा अवनी पर हवा की लहरों से घास लहरा रहा है।

‘यह घास चंचल यौवना जैसी है और मुझे आमंत्रित कर रही है। मुझे कुछ कुछ हो रहा है। क्या है यह?’ वह घास को देखने लगी।

सहसा वह बोल पड़ी, “सुजलाम, सुफलाम।” अपने ही शब्दों से वह चकित हो गई।

“सुजलाम, सुफलाम? अरे मैं यह क्यूँ बोल रही हूँ?”

उसने चारों तरफ निहारा।

“हाँ, यह धरती सुजलाम सुफलाम ही है। संभव है बंकिमचंद्र जी को वंदे मातरम की कल्पना इस नगरी को देखते ही हुई हो। मैं इस धरती को अधिक से अधिक जानने और समजने को अधीर हो हूँ। मुझे देखना होगा।”

वह उस मार्ग से आगे बढ़ी वहाँ भी एक उद्यान था।

‘किन्तु यह तो मुनियों की भांति ध्यानस्थ है। पुष्प हँसना भूल गए हैं, कुछ तो खीलना ही भूल गए हैं। उस तरफ के उपवन का संगीत जैसे हवा में कहीं सुख गया हो।

हवा?

यहाँ हवा भी कहाँ है? वातावरण का यह भार असह्य हो रहा है। चारों तरफ एक विचित्र शांति फुट पड़ी है। इस बाग को छोड़कर भाग जाती हूँ।’

भाग जाने को जानकी ने चरण उठाए ही थे कि अचानक उसके सामने एक व्यक्ति प्रकट हो गई। उसने संकेतों से अपने पीछे पीछे आने को कहा।

“मैं कहाँ हूँ? आप कौन हो? मुझे कहाँ..?”

वातावरण की शांति को नष्ट करने के कारण उसकी आँखों में जानकी के प्रति रोष, अरुचि और डांट के त्रिविध भाव एक साथ उभर आए। कुछ भी प्रतिक्रिया दिए बिना ही जानकी उसका अनुगमन करने लगी।

दो बड़े घुमाव के पश्चात पश्चिम के ढलते सूरज को देख सकें ऐसे खुले स्थान पर वो आ गए। संध्या की लालिमा को देखकर जानकी को क्षणभर रुक जाने का मन हुआ। किन्तु वह व्यक्ति अविरत चल रही थी। विवश जानकी भी चलती रही।

एक बड़े भवन के समीप आकर वह रुकी। वह उस भवन में प्रवेश कर गई। जानकी भी।

वह एक विशाल पुस्तकालय था। वहाँ सभी - बच्चे और बड़े - पुस्तकों में सिर डालकर गंभीर मुख मुद्रा लिए हुए थे।

जानकी पुस्तकों को देखने लगी। वह आश्चर्य से भर गई। दुनीया के सभी महान सर्जकों की पुस्तकें वहाँ थी। जैसे सारा विश्व सीमेंट की उन चार भीत के मध्य आ बसा हो।

एक एक पुस्तक को देखती हुई वह एक पुस्तक का नाम पढ़कर रुक गई।

एक बालक के हाथ में उसने अपनी पुस्तक 'इस नगरी- उस नगरी' देखा।

विश्व के इतने सारे महान सर्जकों के मध्य स्वयं को देखकर उसे अचरज हुआ। आनंद भी और गर्व भी।

वह उस बालक की तरफ बढ़ी। उसने पूछा, "यह पुस्तक कैसी है?"

बालक खड़ा हो गया। पुस्तकालय से बाहर आ गया। जानकी भी।

सहसा वह मुक्त मन से हंस दिया, "क्या आप जानकी के नाम से अपरिचित हैं?"

उसके हास्य में व्यंग घुल गया। जानकी को अपने विषय में अधिक जानना था इस लिए व्यंग को पी गई और उसके मुख से सुनने को उत्सुकता प्रकट की।

"यह है इस संसार की महान लेखिका। उसकी इस पुस्तक में है श्रेष्ठ साहित्य। वह महान है, सब से महान!"

जानकी अपनी प्रशंसा में डूब गई। वह कुछ समजे उससे पूर्व ही सहसा उस बालक उस पुस्तक को फाड़ने लगा। जानकी को क्रोध आ गया।

‘यह कैसा सम्मान? या अपमान?’ वह चीख पड़ी, “तू यह क्या कर रहा है?”

उसने अट्टहास किया और धरती खोदकर उस पुस्तक के फटे टुकड़ों को उसमें डाल दिया।

जानकी के क्रोध या प्रश्नों की अवगणना करते हुए उसने अपना कार्य सम्पन्न कर लिया। पश्चात विजेता की मुद्रा में बोला, “अब तक यहाँ एक ही जानकी थी किन्तु अब वह इन टुकड़ों में व्याप्त हो गई। कुछ ही समय में इस धरती के अणु अणु से वह उग निकलेगी। एक से असंख्य हो जाएगी। और मैं सबसे समृद्ध बन जाऊंगा। हा...हा...।” अट्टहास करता वह दौड़ गया। अपनी प्रतिष्ठा के विश्व से मुग्ध जानकी भी पीछे पीछे दौड़ी।

दो ही चरण भागी होगी तभी वह टकरा गई, विहंग से!

“यह क्या जानकी? तुम नींद में चलने लगी?”

“हं..। हा...। ओ...ह। विहंग?”

आप साहित्यकार कभी तो कल्पनाओं के विश्व को छोड़ो।”

“यह उपहास नहीं है विहंग!” जानकी ने अपने अनुभव की सारी बातें विहंग को सुनाई।

“विहंग, उस बालक को पकड़कर मेरी प्रतिष्ठा को मेरी मुट्ठी में बंद कर लेने का मन हो रहा है किन्तु...।”

“जानकी, मनुष्य सदा अपनी प्रतिष्ठा, अपनी कीर्ति के पीछे भागता है। किन्तु वह मृगजल कभी किसी के हाथ लगा है क्या? जब तक मनुष्य अपनी तृष्णा को नहीं छोड़ेगा, यह होता रहेगा, जानकी। चाहे इस नगरी हो या उस नगरी।”

****

सम्पन्न

[5] वह कौन?

सुनसान राजमार्ग पर उसकी गाड़ी कहीं पहुंचने की शीघ्रता हो ऐसे तीव्र गति से दौड़ रही थी। वह चालक सीट पर बैठी थी। पासवाली या पीछे की सीट पर कोई नहीं था।

भोर के छ: बजे का प्रभात। रिक्त राजमार्ग पर कोई कोई वाहन चल रहा था। अषाढी आकाश और बहता भीगा-मादक-मीठा पवन!

उसने गाड़ी का एसी बंद कर दिया। खिड़को के कांच खोल दिए। वो मादक पवन उसके केशों से खेलने लगा। उसके गालों पर पवन ने जादू किया। समग्र शरीर में एक अनाम प्रवाह बहने लगा।

उसने खिड़की से बाह्य झांका। गगन में दूर दूर श्याम मेघ और आँख मिचौली खेलता सूरज देख उसके अदहरों पर स्मित छा गया।

सहसा उसका ध्यान गाड़ी की गति मीटर पर गया। गति 110 की थी। उसने इस गति को जाँचने के लिए खिड़की से बाहर देखा। गाड़ी की गति वास्तव में अधिक थी।

‘इतनी तीव्र गति से मुझे कहाँ जाना है? किस बात की शीघ्रता है? मैं क्यों इतने वेग से गाड़ी चल रही हूँ?’

बाहर का आकाश उसे लुभा रहा था - क्षण भर रुक जाने को।

उसने गाड़ी की गति घटाई।

‘इस सुंदर प्रभात को भोगना है मुझे, मैं गाड़ी धीरे ही चलाऊँगी।’

गाड़ी अब 40-45 की गति से सरक रही थी। प्रकृति को भोगने की उत्तम क्षण। जैसे कुछ मनपसंद मिल गया हो।

उसने दूर तक व्याप्त क्षितिज को नापने की और दृष्टि से वहाँ पहुँचने की चेष्टा की। दोनों में वह विफल रही। अपनी विफलता पर हंस पड़ी। वह विफलता भी उसे अच्छी लगी। प्रथम बार अपनी विफलता का आनंद उसकी संवेदना को छु गया।

आकाश मेघों से श्याम था। आज आकाश कोई संकेत दे रहा था। जैसे कह रहा था - मुझे बरसना है अनाराधार। सीमाओं को तोड़कर भिगो देना है धरती का सर्वस्व। "हे वर्षा, तू बरस न ऐसी।" वह मन ही मन मेघों को अरज कर बैठी।
'ऐसे अचानक थोड़े ही बरस पड़ेगी यह वर्षा? बस कल दबाओ और बरसने लगे और कल बंद करो तो रुक जाए। किसी विशाल भवन में बहते कृत्रिम झरने जैसी वर्षा थोड़ी है यह?'
'वह तो बरसती भी अपनी इच्छा से और रुकती भी अपनी इच्छा से।'
'तो? वर्षा की इच्छा कब और कैसे होती है?'
'दूर कहीं कोई मयूर बोले, कोई अत्यंत तृषातुर हो जाए और उस मयूर की भांति प्रेम भरे स्वर से पुकारे तब, तब वर्षा की करुणा जागे और उसकी तृषा शांत करने को बरस पड़े, कदाचित।'
सहसा उसके मुखे से काव्य पंक्ति बनकर बरस पड़े ये शब्द-
किसी की अनाराधार तरस बरसे
बादल वहाँ बरसने को तरसे।
अपनी पंक्तियों पर वह प्रसन्न हो गई। उसने स्वयं को अभिनंदन दिए। कवि सम्मेलन में व्यक्त होते कवि की भांति वह पंक्ति को दोहराने लगी। अपने में अभी अभी जन्मे कवित्व का उसने स्वागत किया।
आकाश में अभी मेघ दूर दूर क्षितिज में थे। किन्तु उसका प्रभाव यहाँ उसके मन और ह्रदय पर पड चुका था। उसे मेघ पर कविता करने को मन हो आया। वर्षा पर कुछ कहने को, अकेले अकेले बोलने को, खुलकर नाच उठने को मन होने लगा।

‘वर्षा को देखकर कौन जाने कहाँ से सब कवि बन जाते हैं? शीघ्र ही प्रतीत होने लगता है कि अपने भीतर भी एक ‘कालिदास’ बस रहा है। और तब शब्दों को सजाकर कविता करने का उन्माद जाग जाता है। किन्तु, जब हम स्थिति को समज लें तब तक तो मेघ बिखर जाते है, कविता करना भूल जाते हैं। और बन जाते हैं वही साधारण मनुष्य।’

किन्तु वह साधारण मनुष्य बनने की मनोदशा में नहीं थी। उसने गाड़ी में संगीत बजाया। जगजीत सिंह के स्वर में निदा फाजली की पंक्तियाँ बहने लगी -

बरसात का बादल तो दीवाना है क्या जाने,

किस राह से बचना है, किस छत को भिगोना है?

‘धरती की तृषा अधिक है या मेघों की उत्कट इच्छाएं? क्यों इतनी तीव्रता होती है मेघों के बरसने में? भीगने को अवनी तृषातुर है या बरसने को मेघ तृषाग्रस्त है? किसकी तृषा अधिक होगी? सभी अवनी की तृषा को जानते हैं, मानते हैं। किन्तु छलकने को आतुर मेघ की वेदना को कोई क्यों नहीं समज पाता? उसके ह्रदय में कितनी आकंठ वर्षा भरी होगी? जब उसका भार उठाना असह्य हो जाता होगा तब वह बरसने को आतुर होता होगा? कितना विवश हो जाता होगा वह? अवनी की तृषा भले ही सारा संसार समजे, मुझे तो समजनी है, जाननी है, भोगनी है मेघों की वेदना। मेघों की पीड़ा। मुझे तो बनना है मेघों की वेदना का साथी।’

‘मनुष्य भी कितना कुछ अपने भीतर भर के रखता है? ऐसे ही नहीं बरसने लगता कहीं भी, कभी भी, किसी के भी सम्मुख। ह्रदय की वेदना असह्य बन जाए, भार अधिक हो जाए और कोई सुपात्र मिल जाए तो ही मनुष्य का मन और ह्रदय बरसाता है अपनी भावनाओं की वर्षा।’

‘मेघों का भी ऐसा ही है। कहीं भी, कभी भी बरस नहीं पड़ता।’

किन्तु आज मेघों को बरसने का मन हुआ था। मेघ विवश हो गए थे। बस बरस ही पड़ना था उन्हें।

दूर दूर से मेघ अपने गर्भ में वर्षा को लिए समीप आ रहे थे। जैस वे उससे मिलने को ही न आ रहे हो!
उसने गाड़ी रोक ली। द्वार खोलकर विशाल राजमार्ग की विशालता में तद्रूप हो गई। दूर की भीगी सुगंध को श्वास में भर ली। उसके अंदर कुछ प्रस्फुटित हुआ। अभी भी मार्ग का जीवन जागा नहीं था। एक दो आते जाते वाहनों के अतिरिक्त सब कुछ खाली था।
वह दूर से आ रहे मेघों की प्रतीक्षा करने लगी। आज तो भीगना ही है- पूरा पूरा। इस अवसर को नहीं खोना है। तीन वर्षों के पश्चात आज आई है वह क्षण। आज चूक गई तो कौन जाने कब ऐसे मेघ उमड़ेंगे?
तीन वर्ष।
“ओह। इन तीन वर्षों में कभी भी उन मेघों को या उस वर्षा को भुला पाई हूँ?”
“नहीं। नहीं।” उसने स्वयं को उत्तर दिया।
“उस क्षण की वर्षा आज भी कोरे रह जाने की पीड़ा से भिगो रही है। एक एक कोरी क्षणों ने वर्षा के प्रति अपने भावों को सूखने नहीं दिया। प्रत्युत उन भावों को अधिक तीव्र, अधिक तीक्ष्ण बनाया है।”
उस दिन ऐसे ही किसी मार्ग पर ऐसी ही तीव्र गति से गाड़ी चल रही थी। वर्षा अपने मन से बरस रही थी। ठंडी हवा में बरसते वर्षा बिन्दु कुछ वक्र आकार रच रहे थे। गाड़ी के भीतर उसके तन पर स्थित चुस्त कपड़े, टाई और जूते उसे उसके पद का स्मरण करा रहे थे। तो बाहर बरस रही वर्षा उसे सीधे सादे मनुष्य बन जाने को लुभा रही थी, आमंत्रित कर रही थी। शरीर के वस्त्र और पद उसे ऐसा बनने से रोक रहे थे।
शरीर के भीतर हृदय बच्चा बनकर दौड़ रहा था भीगे भीगे मार्ग पर। नूतन वर्षा के जल में नहा रहा था। किन्तु उसे उसके शरीर के बाह्य आवरण रोक रहे थे।

भीतर के तत्व और बाह्य आवरण के मध्य तुमुल संघर्ष प्रारंभ हो गया।

“चल, बालक बनकर, निश्चिंत होकर निकल चलूँ इस गाड़ी से बाहर। सभी बंधनों को त्याग वर्षा के साथ नाचने लगूँ।” मन मयूर नाचने लगा।
“तू एक उद्योगपति है, दो घंटे पश्चात महत्वपूर्ण व्यावसायिक मिलन है। उसमें ऐसे भीगे कपड़ों के साथ, भीगे जूतों के साथ जाएगी? और यदि मिलन में पहुंचने में विलंब हो गया तो? बड़ा व्यवसाय हाथ से निकल गया तो?”
“व्यवसाय का तो मैं कह नहीं सकती किन्तु यह वर्षा? यह तो अवश्य ही हाथ से छूट जाएगी।”
“वर्षा तो ऐसे ही बरसती रहती है सदा। कल भी बरसेगी। तब भोग लेना उसे। किन्तु यह व्यवसाय पुन: ..?”
मन का यह संघर्ष आगे बढ़े उससे पूर्व ही उसका ध्यान मार्ग पर की हलचल पर पड़ा। समीप के किसी गाँव की चार कन्यायेँ बरसती वर्षा में अल्हड़ बनकर भीग रही थी।
सहसा उसने गाड़ी को रोक दिया, गाड़ी रुक गई। वह वर्षा नृत्य कर रही उन कन्याओं को निहारने लगी। उसे भी मन हुआ दौड़ जानेका, उनके साथ नाचने का। किन्तु, वही मन और हृदय का संघर्ष!
यूं ही कई क्षण व्यतीत हो गए। वह अनिमेष गाँव की उन निश्चिंत, अल्हड़ कन्याओं को निहारती रही।
“आज प्रथम बार मुझे मेरे पद पर और महंगे वस्त्रों पर मिथ्याभिमान के स्थान पर क्रोध आ रहा है।” उसे ग्लानि होने लगी।
लंबे संघर्ष के पश्चात पद, प्रतिष्ठा, और महंगे वस्त्रों के सामने निर्दोष, अल्हड़, निश्चिंत हृदय परास्त हो गया। गाड़ी में ही बैठी रही वह, निहारती रही कन्याओं को और वर्षा की क्रीडा को।

“कितनी भाग्यवान हैं ये कन्यायेँ? वर्षा में नहाती, क्रीडा करती, मस्ती करती, परम आनंद को भोगती, जीवन की क्षणों में डूबती वे कन्याएं! किसी भी शृंगार बिना ही देखनेवाले नयनों में शृंगार रस उत्पन्न करती उनकी मुद्राएं। उनकी मुग्धता, वर्षा के साथ उनकी प्रणय लीलाएं।

मेघ भी जैसे उनका प्रेमी हो, विशेष उनसे मिलने ही, उन्हें भिगोने ही आया हो ऐसे कैसे आलिंगन दे रहा है? निश्चय ही वे एक दूसरे के प्रेम में होंगे।”

कन्याओं की मादक भंगिमाएं उसे आकृष्ट करने लगी। उसे मन हुआ की दौड़ जाऊं उनके पास।

“आज ह्रदय को पराजित नहीं होने देना है, जा। दौड़ जा।” उसने निश्चय कर लिया। उसने जूते, मौजे, कोट, टाई आदि उतार लिए। गाड़ी का द्वार खोल बाहर आ गई।

नंगे पैर वह चलने लगी कन्याओं की तरफ। वर्षा की क्षीण धारा उसके शरीर को स्पर्श करने लगी। उसे वह स्पर्श अच्छा लगने लगा।

उसका मन अधीर था उन कन्याओं के पास जाने को। वह नंगे पाँव दौड़ पड़ी। चरण को इस प्रकार अनावृत हो दौड़ने को कहाँ आता था? बचपन में नंगे पाँव घूमना कितना सहज होता था? और आज अनावृत पाँव को संभालने में भी कठिनाई होने लगी।

‘बचपन के साथ समय रहते वह सहजता भी कहीं खो जाती है? कितनी ही सहजताएं समय के परतों में विस्मृत हो जाती है?’

उसके पाँव में पीड़ा होने लगी। पीड़ा पर ध्यान देते ही वर्षा के स्पर्श का आनंद छूट गया। तथापि वह चलती रही कन्याओं से मिलने को। पहुँच गई उनके पास।

“किन्तु यह क्या? कहाँ गई कन्याएं?”

वे तो अपना नृत्य पूर्ण कर चलने लगी थी। उनका वह नृत्य अब उनके चलने में प्रकट होने लगा।

वह वर्षा, वह नृत्य, वह मस्ती सब कुछ शांत हो गया। वर्षा भी रुक गई। गगन में मेघों ने अपना स्थान बदल दिया। वे सरककर निकल गए आगे। माथे पर का नभ निरभ्र हो गया। क्षणभर में ही पूरा दृश्य बदल गया। शेष था तो केवल उन कन्याओं के चलने में बसा आकर्षण।

कन्याओं का ध्यान उस पर पड़ा। शीघ्र ही वे सभान हो गई। उन्हें भ्रम था कि वर्षा में ऐसे नाचते हुए उन्हें कोई नहीं देख रहा था। किन्तु उसे देखते ही वे जागृत हो गई।

किन्तु वह तो क्षण भर मात्र। पुन: वही अल्हड़ता उनके मुख पर आ बसी।

खुलकर हंस पड़ी वे सभी। उनके हास्य में उनके प्रेमी मेघों जैसी मोहकता थी।

उनके वस्त्र अभी भी भीगे ही थे। गालों पर बालों की लटें नृत्य कर रही थी। उनके नयनों में अजब चेतन और आनंद का झरना बह रहा था। वह उन कन्याओं के नैसर्गिक सौन्दर्य में बहने लगी।

“आपको वर्षा में नहाना था?” एक ने पूछ लिया। वह प्रश्न सुनकर सजग हो गई।

“हं, हं। मुझे आपके साथ वर्षा में नहाना था, नाचना भी था। परम आनंद को भोगना था। किन्तु....?”

“किन्तु आप उसे चूक गए। विलंब कर दिया आपने। वह है ही ऐसा।”

“वह कौन?”

“यह मेघ ही तो। दूसरा कौन?”

उसने गहरी सांस ली। वह समज चुकी थी कि उसने अपनी वर्षा को खो दिया है।

“मैंने कहा न, मेघ है ही ऐसा। उसका कोई भरोसा नहीं। कब आए और कब बरसकर चलता बने। कभी कभी तो लंबी प्रतीक्षा कराए और आए ही नहीं।” दूसरी कन्या अपनी व्यथा कहने लगी।

“और यदि वह आए तो निश्चित नहीं कि कितना आएगा। कभी कभी तो लज्जा से भरी कामिनी की भांति थोड़ा सा बरसे और अधिक तृषा बढ़ाए भी।” तीसरी ने भी अपने मन की बात कह डाली।

“और कभी तो अनराधार बरसता ही रहे।” चौथी भी अपने को रोक नहीं पाई।
“अनहद बरसे और अचानक ही तृषा अधूरी रखकर निर्लज्ज होकर चला भी जाए।” प्रथम कन्या के मुख पर लज्जा की संध्या खिल उठी।
“देखो न, आपके साथ भी इसने अभी अभी ऐसा ही किया ना?”
“यही तो।” वह अब कन्याओं से जुडने लगी। उसका पद, उसका गर्व सब पिघल गया।
“वर्षा और प्रेम में यदि विचार करने को रहे तो कोरे ही रह जाते हैं। भीगना हो तो कूद पड़ने का, शीघ्र ही।”
“यदि समय बितने लगे तो मेघ बिखर जाते हैं और पुन: कब बनेंगे, कब बरसेंगे कह नहीं सकते।”
“हमारी तरह भीग जाने का, जब जहां अवसर मिले।”
मेघ, वर्षा और प्रेम के विषय में मुग्ध कन्याओं के शब्द और ज्ञान उसे भिगो गए। नटखट स्मित देती हुई वे कन्याएं तो चलने लगी। और वह भी हाथ से छूटी वर्षा की पीड़ा लेकर पहुँच गई व्यावसायिक मिलन पर। बड़े लाभ का व्यवसाय भी कर लिया। किन्तु वर्षा की खोई हुई क्षणों की क्षति को अपने ह्रदय में भर लिए। तब से आज तक उस दिन जैसी वर्षा कभी नहीं हुई।
आज तीन वर्ष की प्रलंब प्रतीक्षा के पश्चात मेघ बरसने को आ रहा था। उसने मन ही से उसका स्वागत किया। मेघ भी तीन वर्ष पूर्व दिए वचन को निभा रहा हो ऐसे बरसने ही लगा।
वह भीगने लगी, नाचने लगी। उसके ह्रदय में से संगीत बहने लगा। उसने अपना समग्र अस्तित्व वर्षा में डुबो दिया।
कोई कन्या कौन जाने कहाँ से आ चडी और नृत्य करने लगी। कोई कोरा नहीं रहा। आकाश भी लज्जाशील कन्या के गालों की लालिमा जैसा लाल हो गया। एक अद्‌भुत आनंद बरसने लगा, चारों तरफ।

“कौन थी वह? ऐसा कहाँ और कब हुआ था? वे कन्याएं कौन थी? पश्चात क्या हुआ?”

किसने पूछे ये प्रश्न?

आपने?

क्या अंतर पड़ता है ऐसे प्रश्नों के उत्तरों से?

आप भी न? ऐसे प्रश्नों में खो दिया न समय को?

अरे जाइए। कोई वर्षा रुक जाए उससे पूर्व, भिगो लो अपने आप को।

उसके भाग्य में तीन वर्ष के पश्चात ऐसी वर्षा आई। सभी के भाग्य में मेघ फिर से उमड़ आए ऐसा थोड़े ही न होता है? और यदि उमड़ भी आए तो कितने वर्षों के पश्चात यह भी कौन जानता है? मैं तो नहीं जानता।

आप जानते हो?

***

सम्पन्न

[6] अव्यापक

घड़ी का अलार्म बजते ही मैं उठ जाता हूँ- एक झटके के साथ। पश्चात खट ध्वनि से प्रारंभ होते यंत्र की भांति जुड़ जाता हूँ दिन भर के निश्चित कार्यों में- ब्रश करना, व्यायाम करना, दाढ़ी बनाना, स्नान करना। और दौड़ने लगता हूँ दौड़ते-भागते लोगों के साथ इस महानगर के मार्गों पर।

एक निश्चित क्रम की बस में यंत्रवत चड जाता हूँ, एक निश्चित स्थान पर अनेक लोग उतरते हैं, मैं भी उतर जाता हूँ हाथ में बेग को संभालते हुए।

यहाँ विशाल भवनें हैं। उनमें बड़े बड़े शेठों के बड़े बड़े कार्यालय हैं। बस में से उतरे लोग अपने अपने योग्य भवनों में घुस जाते हैं। मैं भी एक भवन के भीतर घुस जाता हूँ।

आठ मंजिल भवन की चौथी मंजिल पर जाने के लिए मैं लिफ्ट की प्रतीक्षा नहीं करता और तीव्र गति से सीढ़ियों से पहुँच जाता हूँ चौथी मंजिल पर।

मुझे लिफ्ट पसंद नहीं है। लिफ्ट के लिए प्रतीक्षा करते असंख्य लोगों को देख मुझे आलसियों की सेना का स्मरण हो आता है। सीढ़ियों से ही चड़ना मेरा अपना सिद्धांत है। लिफ्ट सशक्त व्यक्ति के पग का अपमान है ऐसा मैंने बचपन से ही अपने दादा जी से सुना है। तभी तो मैं पग को झटका देकर सीधा कार्यालय में पहुँच जाता हूँ।

आसपास बैठे लोगों को स्मित देता हूँ। घड़ी देखकर समय पर आने का आश्वासन ले लेता हूँ। बॉस अभी नहीं आए हैं इसलिए सुख से अपनी टेबल पर बैठ जाता हूँ। मुझे व्यर्थ बातों में रुचि नहीं है। कार्यालय में अर्थहीन बातें करते लोग मुझे कभी पसंद नहीं आते। मैं अपने ही काम में खो जाता हूँ।

एक एक करके फ़ाइलें आती रहती हैं, फटाफट उनके कागज खोलता हूँ, शब्दों को पढ़ता हूँ। फ़ाइलों के कागज, कागज के शब्द, शब्द से भरे कागज, कागजों की फ़ाइलें। शब्द, कागज और फ़ाइलों के त्रिकोण में मेरा अस्तित्व एकाकार हो जाता है।

व्यर्थ समय नष्ट करना मेरी रुचि नहीं है। मैं अविरत काम करने के सिद्धांत में विश्वास रखता हूँ। भोजन का समय भी काट के मैं काम में व्यस्त हो जाता हूँ। संध्या होते ही सभी घर जाते हैं। मैं भी। कार्यालय से घर पहुंचते मार्ग में अत्यंत दौड़धूप है, कोलाहल है। किन्तु मुझे उनमें से कुछ भी स्पर्श नहीं करता। मैं घर आ जाता हूँ।

घर में मेरे अतिरिक्त कोई भी नहीं है। कोई संबंध का मुझे स्मरण भी नहीं है। द्वार के समीप एक टेबल और कुर्सी है- लिखने के लिए। एक शैया, उस पर गद्दे के स्थान पर एक ही चट्टाई और एक चादर।

एक कोने में सामयिकों का ढग है। निकट उसके वस्त्रों का कबाट। भात भात के वस्त्रों को कोई स्थान नहीं है उसमें, केवल आवश्यक वस्त्र ही हैं उसमें।

कार्यालय से आते ही वस्त्र बदलकर मेरा अस्तित्व सामयिकों में विलीन हो जाता है। रात्रि को सोने से पूर्व दूसरे दिन समय पर जाग जाने के लिए घड़ी में अलार्म लगाना नहीं भूलता हूँ। सोते ही जगत को भूल जाता हूँ।

एक के पीछे एक करते हुए यूं ही जीवन के कितने दिन व्यतीत हो गए उसका मुझे ज्ञान है। मैं प्रतिदिन डायरी लिखता हूँ। संभवत: इसलिए टेबल कुर्सी ली थी या टेबल कुर्सी ली थी इसी लिए डायरी लिखता हूँ- मुझे उस बात का कोई स्मरण नहीं है। कुछ भी हो, मैं डायरी लिखता हूँ।

पूरे दिन में घटी घटनाओं में से विशेष बात डायरी में उतार देता हूँ। व्यर्थ बाते लिखने की मुझे चिड है।

डायरी से गीन भी सकते हैं कि कितने वर्ष, कितने दिन, कितनी सेकंडस मैं जी चुका हूँ। किन्तु मुझे वे सब बातें व्यर्थ लगती है।
पानी की धारा की भांति यूं ही बह जाती जिंदगी!

उस दिन रविवार था। अलार्म को इस बात का ध्यान नहीं था। वह अपने नियम से बज उठा।
किन्तु आज झटके से उठना नहीं था। बेल की तरह जुतना नहीं था। मैंने जंभाई ली। अलार्म बजे ही जा रहा था। किन्तु आज में उसकी माननेवाला नहीं था, उठने वाला नहीं था। अंत में अलार्म थक गया, बंद हो गया। हंस पड़ा मैं। उठना है या नहीं उसकी अनिश्चितता में पुन: चादर ओढ़कर सो गया।
मैं आठ वर्ष का बालक बन गया। मेरी आयु के बालकों के साथ खेलने लगा, मस्ती करने लगा।
अचानक दूर एक मदारी के हाथ में डमरू बज उठा। मैं दौड़ गया वहाँ। मेरे साथ पिनु, पिलु, निशु, दीपू, मूको, विदू सभी दौड़े।
मदारी ने सांप, नेवला, जादू,.. कितने सारे खेल किए। हम प्रसन्न होते रहे, तालियाँ बजाते रहे।
अंत में मदारी ने बंदर का खेल किया। बंदर ने विविध खेल खेले। मदारी के संकेतों पर वह उठता, बैठता, चलता, दौड़ता, नाचता, हँसता, रोता, लोगों का अभिवादन करता और मदारी के संकेत पर ही शांत हो गया।
खेल सम्पन्न हो गया। सब चले गए। मुझे बंदर पसंद आ गया। उसे देखते हुए मैं वहीं खड़ा रहा। और सभी माया समेटकर मदारी तो चलने लगा। मुझे मदारी पर क्रोध आ गया। मैंने अपने हाथों की मुट्ठी बंद की और मदारी के पीछे दौड़ा। मैं शैय्या से गिर पड़ा।

मैं जाग पडा। स्वप्न का स्मरण होते ही मैं बोल पडा, “बंदर।“ मैं जोर से हंस पड़ा। मेरे हास्य से पूरा कक्ष भर गया। मुझे अब ध्यान आया कि मुझे इस तरह मुक्त मन से हँसना भी आता है। मैं पुन: हंसा।

मैंने घड़ी देखि। ब्रश करने लगा। दर्पण में मेरा प्रतिबिंब दिखा। मेरे दांत स्वच्छ हो गए थे। श्वेत दांतों को देख मुझे बगुले का स्मरण हो आया।

मैं प्रतिदिन क्यों दांत घिसता रहता हूँ? दांत बिगड़ न जाए इस लिए? या किसी युवती के सामने हँसते हँसते खिल उठने के लिए?

मुझे किसी भी युवती के सामने क्यों हँसना चाहिए? नहीं। मुझे ये प्रेम करना नहीं आता। कभी भी किसी भी युवती से प्रेम नहीं करना है वह भी मेरा अपना सिद्धांत है। मैं अनेक युवतियों को जानता हूँ, किन्तु किसी के प्रेम में नहीं हूँ। मुझे कविता की भाषा बोलनी नहीं आती। कई युवतियाँ मेरी तरफ आकृष्ट हुई होगी किन्तु मैं जरा भी आकृष्ट नहीं हुआ हूँ। यही कारण हो सकता है कि मुझे कविता करना नहीं आता।

जब भी कोई युवती पूछती है, “चा या कॉफी? या कुछ ठंडा?” और मैं बड़ी सज्जनता से उत्तर देता हूँ, “मैं कुछ नहीं लेता।” इन शब्दों में मेरे सिद्धांतों का अभिमान प्रकट हो जाता है। तथापि मैं गर्व से यही कहता हूँ।

दाढ़ी करने के साधनों को सजाकर ब्रश घुमाने लगता हूँ। ब्रश में फेन उभर आता है। मन में भी फेन उभर रहे थे।

स्वप्न का बंदर मेरे मन का पीछा नहीं छोड़ रहा था। उससे पीछा छुड़ाने के लिए ब्रश को मेरे दाढ़ी वाले मुख पर घुमाया। फेन मेरे मुख पर फेल गया। मेरे विचारों का फेन बंदर पर से कूदकर दाढ़ीवाले मेरे मुख पर आ अटका।

मेरा हाथ भी अटक गया। मन में उठे विचारों के फेन इतने तीव्र थे कि दाढ़ी पर उभरे फेन कब सुख गए उसका भी ध्यान नहीं रहा।

मैंने स्वयं को प्रश्न किए।

‘दाढ़ी क्यों उग आती है? मैं क्यों उसे प्रतिदिन छिलता रहता हूँ। छिली हुई दाढ़ी से मुख को चमकाने के लिए? या कोई पूछे की कैसे हो? उसके उत्तर में हँसते हँसते बिना दाढ़ी के मुख की लालिमा दिखाकर ‘अच्छा हूँ’ कहने के लिए?
मन में अनेक समस्याएं हो, शरीर रोगग्रस्त हो या मृत्यु शैया पर हो तो भो कितनी सरलता से कह देते हैं- अच्छा हूँ।
उस दिन मुझे ज्वर था। नौकरी की चिंता में भटक रहा था। भोजन भी नहीं लिया था। एक विशाल कार्यालय में नौकरी की प्रतीक्षा में बैठा था। मेरे ही जैसे किसी ने पूछा था, “कैसे हो?” और मैं बोल पड़ा था, “अच्छा हूँ।”
मेरे उत्तर पर मैं हँसु या रोऊँ? इसी दुविधा में आँखें बंदकर बैठा रहा। किसी ने मेरे नाम को पुकारा, मैं भीतर गया और मुझे नौकरी मिल गई।
सभी चिंता दूर हो गई हो समजकर उस दिन मैं प्रसन्नता से तालाब पर घुमा था। उसी दिन मुझे संज्ञान हुआ कि तालाब तो पूरा भरा है।
“पश्चात? क्या हुआ था? आगे बात कहो न? बड़ा रस आ रहा है।”
मैं चौंक गया। मेरे भीतर से ही ये शब्द उठे थे। जीवन में प्रथम बार मैंने अपने से बात की थी। मैं प्रसन्न हुआ। आगे बढ़ने लगा।
“पश्चात?”
मैं नौकरी करने लगा। काम में ही व्यस्त हो गया। प्रामाणिकता के कारण पदोन्नति होने लगी। वस्त्र, जीवन शैली, बोलने की भाषा सब बदलता गया, अच्छा होता गया। अधिक उच्च होता गया।
बेंक बेलेन्स बनने लगा, बढ़ने लगा। बढ़ता ही गया। दाढ़ी के बाल भी बढ़ते रहे जिसे रोकने के लिए प्रतिदिन दाढ़ी करने लगा।
दिन बीतने लगे। आयु बढ़ने लगी, बढ़ती गई। मेरे पास रुपये लाखों में हैं, आयु वर्षों में है और दाढ़ी के बालों को उगते ही काट देता हूँ।
दाढ़ी?
सूखे फेन की सफेद चादर दाढ़ी पर दिखी।

मैंने बेंक बेलेन्स बढ़ती रोकने का प्रयास नहीं किया था। बढ़ती आयु को भी मैं रोक नहीं सकता। तो बढ़ती दाढ़ी को क्यों रोक रहा हूँ? बिना दाढ़ी किए नहाने का निश्चय किया। नहाना भी क्यों चाहिए? भोजन भी नहीं करना चाहिए।

मैंने निश्चय कर लिया, आज कुछ भी नहीं करना। केवल विचार करना है। विचार आने लगे।

हम क्यों जागते हैं? ब्रश करते हैं? दाढ़ी बनाते हैं? नहाते हैं? खाते हैं? नौकरी करते हैं? दाढ़ी क्यों बढ़ती है? बेंक बेलेन्स क्यों बढ़ता है? आयु क्यों बढ़ती है? सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर मिला- जीने के लिए।

जीते क्यों हैं? पुन: प्रश्न उठा।

विचारों के, प्रश्नों के आक्रमण से मैं डर गया। कोने में पड़े सामयिकों के ढग पर दृष्टि पड़ी। वह भी तो बढ़ता ही गया है। मैं उसे टटोलने लगा।

धर्म, विज्ञान, समाज, उपन्यास, वार्ता, कविता, हास्य, रहस्य, राजनीति...।

दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, वार्षिक विशेषांक....।

सब कुछ।

मुझे आश्चर्य हुआ- कितना कुछ मैं पढ़ चुका हूँ! सब कुछ मेरे मस्तिष्क में ठूंस ठूंस भरा होगा? मुझे अपने ज्ञान पर गर्व हुआ।

सभी पर उसके छपने की तारीख थी। मैं उसे पढ़ता गया।

ओ... ह..। कितना जी चुका हूँ मैं! इतने समय में दाढ़ी न बनाई होती तो कितनी लंबी हो गई होती? और उस बढ़ी दाढ़ी के साथ जिए हुए दिनों की तुलना कर गया। अपने ही विचार पर हंस पड़ा।

इतने दिनों से मैं जी रहा हूँ। किन्तु क्यों? विचारों के फेन पुन: उमड़ने लगे। इतना जीने का उद्‌देश्य है भी? कोई संज्ञान भी लेता होगा मेरे इस जीवन का? मैं इस संसार में आया ही न होता तो क्या अंतर पड़ता? नई घटनाएं बनती हैं, हमारे लिए। किन्तु वे तो युगों से होती आई है, सभी के लिए।

इस शरीर का क्या यही उपयोग है?

अनिवार्य एकविधता, आनेवाले कल के घंटों- मिनटों के खाली स्थानों में खींचते जाने की प्रक्रिया? उठना, ब्रश करना, दाढ़ी करना, बस में, कार्यालय में...।
रोज फटकर वर्ष के अंत में खाली हो जाते केलेंडर के पन्ने और घड़ी की टिक टिक के मध्य जकड़ी हुई जिंदगी?
मित्र, संबंध, पद, प्रतिष्ठा, रुपये... इन सभी को मिश्रित कर बनाये हुए रस का प्याला ही है यह जीवन। क्या यही जीवन है?
क्या किया मैंने इतने समय में?
बंदर और मदारी। कितना अद्भुत खेल करता था- बंदर! देखनेवाले अचंभित रह जाते थे। उसके एक एक अभिनय पर लोग वाह - वाह बोल पड़ते। मैं भी बोल पडा - वाह, वाह।
मैंने भी इतने समय में अद्भुत खेल किए थे। कॉलेज की परीक्षा हो या खेल की स्पर्धा, मैं ही प्रथम आता। लोग पूरे विश्वास से कहते, “विस्तार ही जीतेगा।‘’ और होता भी ऐसा ही था।
कितना गर्व, कितना विश्वास था लोगों को ‘विस्तार’ नाम के मैं पर!
नौकरी मिली, धन मिलता गया, पदोन्नति होती रही। मेरे शेठ का व्यापार बढ़ता गया, लाभ भी। मेरा मान, पद, प्रतिष्ठा भी। सब बढ़ता गया। सभी मेरी प्रगति का खेल देख ‘वाह वाह’ करने लगे।
वाह वाह।
बंदर भी सुंदर कार्य करता था। किन्तु वह तो मदारी के संकेतों पर। मुझे संतोष हुआ, मैंने ‘वाह वाह’ मेरे अपने प्रयासों से प्राप्त की थी। मैं किसी मदारी के संकेतों पर नाचा नहीं था। मुझे बंदर की तुलना में मैं ‘महान’ लगने लगा। बंदर तो मुझे एक तुच्छ प्राणी लगा। मदारी के संकेतों पर नाचता बंदर!
छि! छि। मैंने एक प्रचंड हुंकार किया।
खेल सम्पन्न होते ही बंदर चला गया। मैं भी मेरा खेल पुरा करके चला गया तो? कहाँ?

नहीं जानता।

यहाँ से तो मुझे जाना ही है। आज, कल, परसों..। कभी तो?

मैं चला गया तो क्या होगा? शेठ का व्यापार रुक जाएगा? बढ़ती दाढ़ी अटक जाएगी? मेरे बिना शेठ का व्यापार चल ही नहीं सकता। मेरे बिना दाढ़ी बढ़ ही नहीं सकती। दाढ़ी को देखकर मैंने पुन: हुंकार भरा।

मैं कल काम पर नहीं जाऊंगा।

मैं नहीं गया।

मैं सोचने लगा।

व्यापार अटक गया होगा। लाखों की लेन देन रुक गई होगी। कार्यालय के कंप्युटर पर उठाती खट खट ध्वनि बंद होगी। सभी बिना काम के हो गए होंगे। एक खालीपन व्याप्त हो गया होगा। सब कुछ शांत होगा। स्मशानवत शांति फुट पड़ी होगी।

ओह। कितने लोग नाचते हैं मेरे संकेतों पर? मदारी तो एक ही बंदर को नचाना जानता है। किन्तु मैं तो कितने सारे लोगों को नचाता हूँ? मैं मदारी हूँ और बाकी सब बंदर हैं। मेरे, केवल मेरे संकेतों पर नाचते बंदर। मैं मदारी से भी महान हूँ।

किन्तु उस दिन कार्यालय में सब कुछ नित्य की भांति होता रहा। व्यापार हुआ, माल आया भी, गया भी। लाखों की लेन देन हुई। महिला कर्मचारी ने कागज पर शब्द उतारे, उन पर हस्ताक्षर भी हुए। कागज फ़ाइलों में भी गए। कंप्युटर की खट खट ध्वनि भी हुई। केवल मेरे नाम के आगे उपस्थिति पत्र में ‘अवकाश’ लिखा गया। बाकी सब कुछ क्रम से हुआ।

मेरा ‘अहम’ चूर चूर हो गया। वह मदारी मुझ पर हंस रहा था। मुझे मदारी महान लगने लगा, बंदर भी।

मैं बंदर हूँ। मेरा भी कोई मदारी है। आप भी, वह भी, सब बंदर ही हैं।

मैंने एक कागज निकाला, उस पर फटाफट दो चार पंक्तियाँ लिख डाली। उसे मोडकर जेब में रख लिया। सोचने लगा।

'मेरे बिना भी संसार चल रहा है। मेरे शेठ का व्यापर, उसका कार्यालय, उसका कामकाज भी। मेरे आने से पूर्व भी और आज भी। यदि कल मैं नहीं होऊँगा तो भी। तो यहाँ मेरी आवश्यकता क्या है? मैं होऊं तो भी, न होऊं तो भी क्या होगा? मेरे होने न होने से इस संसार को कहाँ कोई अंतर पड़ता है?

मैं उठा। शेठ के कक्ष में गया। कुछ क्षण पूर्व जेब में रखे कागज को टेबल पर रख दिया। शेठ की तरफ एक दृष्टि कर बाहर आ गया। एक दृष्टि कार्यालय पर भी डाली। और सीधा मार्ग पर आ गया।

घर आते ही स्मृति के सभी अवशेष - कागज, सामयिक, प्रमाणपत्र, तस्वीरें- आदि सब कुछ एक कपड़े में लपेट लिया। उसे जला दिया। घर बाहर आ गया। दूर रहकर जीवन के चिह्नों को जलते देखता रहा। अन्य सभी लोग भी 'विस्तार' के जलते घर को देख रहे थे।

कितना आनंद आता होगा लोगों को, दूसरों के जलते हुए घर को देखते रहने का! एक अट्टहास कर मैं आगे बढ़ गया। मैं बढ़ती दाढ़ी को रोकने का प्रयास नहीं करूंगा। उग जाने दो मुख पर जंगल को।

मैं चला।

कहाँ? प्रश्नों के भँवरों को बींधने।

क्या है इस जीवन का उद्देश्य? उद्देश्य है भी या नहीं? क्यों जीना है? ऐसे प्रश्नों को लेकर मैं चल पडा, कहीं भी।

किसी मार्ग पर आपको कहीं मिल जाऊं और ऐसे प्रश्न कर बैठूं तो 'पागल' मानकर ठुकरा न देना। यदि आपको किसी एक प्रश्न का भी उत्तर मिल जाए तो आपके गाँव की सीमा में स्थित वटवृक्ष के नीचे रहते 'पागल' को कहने दौड़ जाना।

जाओगे न?

किन्तु, मैं इन प्रश्नों के उत्तर क्यों खोजता हूँ? क्या पाना चाहता हूँ मैं? क्या उनके कोई उत्तर होते भी हैं?

मैं नहीं जानता।

पुन: प्रश्नों के भंवर उठते हैं। दाढ़ी बढ़ती रहती है। आयु भी। हाँ, बढ़ते बेंक बेलेन्स को रोक सका हूँ।

****

सम्पन्न

[7] श्वेत छाया

पीटर की दृष्टि श्वेत भींत पर स्थिर हो गई। भींत श्वेत थी, शुद्ध श्वेत, पूर्ण श्वेत। श्वेत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

सूर्य की किरणें भींत पर अपनी पूरी तीव्रता और पूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रहार कर रही थी।

श्वेत भींत पर श्वेत किरणें!

ये किरणें भींत की धवलता को और निखार रही थीं। भींत अपने भीतर के श्वेत रंग के साथ साथ सूर्य के किरणों की धवलता भी समाए हुई थी।

पीटर को वहाँ किसी रंग की अपेक्षा थी, श्वेत के साथ, श्वेत के अतिरिक्त। किन्तु वह निराश हुआ। वहाँ श्वेत के अतिरिक्त कोई रंग नहीं था। वह जानता था कि श्वेत रंग अपने भीतर इंद्रधनुष के सभी रंगों को धारण करता है। किन्तु उन सभी रंगों का अनुभव करने के लिए उस श्वेत रंग का विभाजन करना होता है। वह विभाजन वह नहीं कर पाया।

श्वेत भींत किसी चित्रपट की जवनिका जैसी दिख रही थी।

चित्रपट!

वहाँ, जहां केवल समस्त स्थान पर निर्जनता व्याप्त थी और क्षितिजों तक किसी मनुष्य के होने की धारणा भी नहीं हो सकती थी वहाँ कोई कैसे किसी चित्रपट और उसके सभागार की अपेक्षा कर सकता है? वह अपनी ही कल्पना पर, अपनी ही अपेक्षा पर हंस पड़ा।

उस घर में अपनी प्रथम रात्री को पीटर सो न सका। सोने के प्रयासों में वह देर रात्रि तक जागता रहा। रात्री के अंतिम प्रहर में वह किसी भी तरह सो सका।

सहसा वह जागा और घड़ी में समय देखा। 7.42 मिनट।

जब ठेकेदार का नौकर जेक उसे इस घर तक छोड़ गया था तब संध्या ढल चुकी थी और रात्री ने अवनी पर प्रवेश कर लिया था। घर की सभी दिशाओं में गहन अंधकार और गहन नीरवता व्याप्त थी। तो उसे उस समय घर के और आसपास के परिवेश को देखने या समजने का अवसर नहीं मिला था।

जेक ने सूचना दी थी, “मैं चाय नास्ते के साथ 10.30 पर आ जाऊंगा। पश्चात वहाँ से हम सीधे अरण्य में जाएंगे और काम प्रारंभ कर देंगे।”

पीटर हंसा और पुन: घड़ी देखि। 7:42.

‘अभी तो बहुत समय है। चलो थोड़ा और सो लेता हूँ।’ स्वयं से बात करते हुए उसने सोने का प्रयास किया, विफल रहा।

‘तो क्या किया जाए?’ उसने स्वयं से प्रश्न किया। वह प्रश्न उसके सम्मुख एक पहाड़ की तरह आकर खड़ा हो गया। उस पर विचार करता रहा किन्तु उत्तर नहीं मिला।

शीत और वसंत के संगम का समय था। वसंत की उष्णता शीत की शीतलता से मिलने को उत्सुक थी। जैसे किसी नवयौवना किसी धीर गंभीर पुरुष से आलिंगन को उत्सुक हो। वह ऋतु आकर्षक एवं लुभावनी थी।

‘बाहर जाकर आस पास के जगत को देखो। खुली और शुद्ध हवा में सांस लो।’ उसके मन ने आदेश दिया।

‘मैं प्रथम वातायन से बाहर के संसार को देखूँगा।’ अपने मन को उत्तर देते हुए उसने वातायन खोल दिया। बाहर देखा। दूर दूर तक कुछ भी नहीं दिखा।

धूल से भरी एक संकरी पगडंडी थी। धूल का रंग धूल सा ही था। पगडंडी की दोनों तरफ विशाल वन और आकाश व्याप्त था। दोनों खुले, गहरे और अनंत थे।

“क्या मैं वन में हूँ? यह घर भी वन में है?” उसे संशय हुआ। वह विचलित हुआ।

‘वन में तो काम करना है किन्तु रहने के लिए भी वन में घर? घर तो कार्य क्षेत्र से दूर कहीं मनुष्यों के मध्य में होता है।’

उसने वातायन बंद कर दिया। घर से बाहर जाने का वह साहस नहीं कर पाया। उसने घर को ध्यान से देखा। उसे सीढ़ी दिखी। वह उससे चड़कर ऊपर गया। ऊपर भी दो कक्ष थे। वहाँ एक और सीढ़ी थी। वह उसे छत पर ले गई।

वह खुले व्योम के तले था। उसने वही दिशा में देखा जिस दिशा को उसने वातायन से देखा था। परिणाम वही। धूल से भरी पगडंडी, अरण्य और गगन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। क्षितिजों तक निर्जनता थी, शून्यता थी।

उसने गहरी सांस ली, आँखें बंद कर ली। वह एक सामाजिक प्राणी था, अपने आप किसी वसाहत में होने की उसे अपेक्षा थी। किन्तु कहाँ था वह?

उसने मन को स्थिर कर अन्य दिशाओं में देखने के लिए आँखें खोली।

दूसरी दिशा में एक और घर की छत उसे दिखी, तिन चार फुट की दूरी पर। उस घर के पार उसने देखा तो पुन: वह निराश हो गया। उस दिशा में भी कुछ भी नहीं था सिवा धूल भरी पगडंडी, अरण्य, गगन, निर्जनता और शून्यता।

‘कोई मनुष्य यहाँ रहता भी होगा? या निर्जनता और शून्यता ही यहाँ के नागरिक होंगे?’ अपने ही संशय में वह घिर गया।

‘किन्तु यहाँ एक और घर है, संभव है वहाँ कोई जीवन जी रहा हो।’ इसके भीतर से उठे स्वर ने उसे आश्वस्त किया।

वह उस घर को ध्यान से देखने लगा, निरीक्षण करने लगा।

छत के उलटे हाथ पर एक कक्ष था जो छत को आधा कर देता था। आधी छत खुली थी। उस कक्ष के द्वार को वह नहीं देख पाया, हो सकता है वह विरुद्ध दिशा में हो। दाहिने हाथ पर एक भींत थी जो श्वेत थी, बड़ी थी। आठ फुट ऊंची और 17-18 फुट लंबी थी। पीटर से वह 20-22 फुट की दूरी पर थी। उसी भींत पर श्वेत सूर्य किरणें व्याप्त थी। श्वेत किरणें श्वेत भींत को किसी चित्रपट के पट जैसा बना रही थी।

चित्रपट !

वहाँ, जहां केवल समस्त स्थान पर निर्जनता व्याप्त थी और क्षितिजों तक किसी मनुष्य के होने की धारणा भी नहीं हो सकती थी वहाँ कोई कैसे किसी चित्रपट और उसके सभागार की अपेक्षा कर सकता है? वह अपनी ही कल्पना पर, अपनी ही अपेक्षा पर हंस पड़ा।

वह हंसा मुक्त मन से, कल रात्री के पश्चात प्रथम बार। उसे अच्छा लगा। उसे अपने भीतर सकारात्मक ऊर्जा का अनुभव हुआ।

पीटर ने उस श्वेत भींत से अपना ध्यान हटाने के अनेक यत्न किये किन्तु प्रत्येक बार उस भींत ने उसे अपनी ओर आकर्षित किया। वह उस भींत को दृष्टि से दूर नहीं कर पाया।

'क्या है इस भींत में?' वह निर्णय नहीं कर सका न ही भींत को छोड़ सका। उसे भ्रम होने लगा कि उस भींत में कोई जीवन है, जो उसके भीतर छिपा है और प्रकट होने को तत्पर है। जो उसे बुला रहा है, आमंत्रित कर रहा है। वह उसमें उलझ गया। वह भींत पर ही स्थिर हो गया।

समय की कितनी तरंगें बह गई, पीटर उससे अनभिज्ञ था। श्वेत भींत, श्वेत सूर्य किरणें और श्वेत दृष्टि। सब कुछ श्वेत होते हुए भी उसे जीवन के अन्य रंगों की आशा थी।

जीवन के अंतत: संकेत दिखे। एक आकृति श्वेत भींत पर सहसा प्रकट हो गई। जैसे किसी की छाया हो।

छाया! श्याम छाया। गहन श्याम छाया।

पीटर को उस रंग विहीन श्वेत भींत पर वह काला रंग अच्छा लगा। वह ऊर्जा से भर गया। छाया को देखने लगा।

छाया धीरे धीरे हिल रही थी। उस हलन चलन से पीटर ने माना कि वह किसी मनुष्य की आकृति होगी। वह उसे ध्यान से देखने लगा। उसने पाया कि वह किसी स्त्री की आकृति है।

'इसका अर्थ है कि उस घर में कोई रहता है और संभवत: वह स्त्री है।' पीटर ने उसे पुन: देखा। उस छाया की गति एवं मुद्राएं कह रही थी कि वह किसी स्त्री की ही छाया है। उसे विश्वास हो गया। वह प्रसन्नता से नाच उठा।

'यहाँ कोई है, इस शांत स्थान पर मैं अकेला नहीं हूँ।'

क्षण में ही छाया स्थिर हो गई, कुछ क्षणों के लिए। छाया ने अपने दोनों हाथ खोले, दाहिनी तरफ तथा बाँई तरफ हिलाए, अनेकों बार।

उसकी गति से प्रतीत हो रहा था कि उसका शरीर घुमावदार है, अनेकों घुमाव हैं। प्रत्येक घुमाव आकर्षक है।

छाया नब्बे अंश घूम गई। जिससे उसका शरीर स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हो रहा था। जैसे सब कुछ दिख रहा हो।

खुले लहराते केश, सुंदर मुखाकृति, उठे हुए दो हाथ, हाथ के नीचे दो मद्धम पयोधर, क्षीण कटी प्रदेश, आकर्षक जंघाएं, पतले पाँव।

पीटर अप्रतिम शिल्प को देख रहा था जो अपनी ही रसिक चेष्टाओं में व्यस्त था। वह शिल्प की प्रतिमा नहीं जानती थी कि कोई उसे देख रहा है, पूर्ण रुचि से। जो सौन्दर्य के उस सागर का पान छाया के माध्यम से कर रहा था।

वह अपनी प्रवृति करती रही, पीटर बिना विक्षेप डाले उसे देखता रहा।

वह वहाँ से हिलना भी नहीं चाहता था क्यों कि श्वेत भींत पर श्याम छाया का आकर्षण उसे रोक रहा था। वह उसकी सभी चेष्टाओं का अनुभव कर रहा था। वह स्थिर था, जैसे कोई प्रतिमा।

कौन स्थिर था? पीटर या समय? कोई नहीं जानता।

सहसा छाया ने अपने दोनों हाथ अपनी छाती पर रखे और तन पर से वस्त्र उतारकर नीचे रख दिए। पीटर की दृष्टि ने नीचे तक उसका पीछा किया। कपड़े नीचे गिरकर स्थिर हो गए तो उसने छाया की तरफ दृष्टि उठा ली। उसे उनके दो उरोजों की छाया दिखी, जो सीधी और खींची हुई थी।

‘अभी भी उसके स्तनों पर कोई वस्त्र है जिसने उन युग्म को बांधे रखा है।’ उसने अपने आप से कहा।
छाया ने वक्ष से बाकी बचा वस्त्र भी उतार लिया। दोनों उरोजों की छाया नीचे की तरफ थोड़ी सी झुक गई, तथापि दोनों चुस्त थे। दोनों स्तनाग्र उठे हुए और उत्तेजित थे।
छाया ने छाती के नीचे के शेष वस्त्र भी उतार दिए। अब वह अनावृत थी, पूर्ण रूप से अनावृत!
वह झुकी, एक पात्र में पानी भरा और अपने अनावृत शरीर पर डाल दिया। वह स्नान कर रही थी। पानी उस श्याम छाया पर गिरता, सरकता और नीचे गिर पड़ता। जैसे किसी पहाड़ पर से बहता झरना धीरे धीरे नीचे सरक रहा हो। उससे ध्वनि उत्पन्न हो रहा था। जैसे जल प्रपात का सुंदर ध्वनि!
गिरते हुए जल का ध्वनि बाँसुरी सा मीठा, गिटार के तरंगों सा चंचल, संतूर के ध्वनि सा मृदु था। पीटर आँखें बंद कर उस संगीत में खो जाना चाहता था। किन्तु श्वेत भींत की वह श्याम छाया उसे पलक भी झपकाने नहीं दे रही थी। समय के कई क्षणों के असीम बिन्दु तक वह उसे खुले नयनों से देखता रहा।
छाया ने स्नान पूर्ण कर लिया। अपने शरीर को पोंछा। पीटर की दृष्टि तोलिए की उस गति का अनुसरण करती रही जो उसके शरीर के प्रत्येक भाग को स्पर्श कर रहा था। प्रत्येक गति उसे अधिक आकर्षक बना रही थी, और पीटर उसमें डूबा जा रहा था। उसे तोलिए की ईर्ष्या होने लगी।
उसे मन हुआ कि तिन फुट के अंतराय को लांघकर उस छाया के पास पहुँच जाऊं, उसे देखूँ, उसे आलिंगन दूँ, उसे अपने बाहु में भर लूँ।
इस विचार से वह पसीना पसीना हो गया। वह उस तीन फिट को पार न कर सका।
छाया ने वस्त्र पहन लिए और छत से चली गई। पीटर भी।

वह जेक के साथ काम पर चला गया। काम को समजने का प्रयास करता रहा किन्तु उस श्याम छाया ने उसके मन और विचार पर नियंत्रण कर रखा था, पूरे दिन। प्रत्येक क्षण उसे काम छोड़कर घर की तरफ भाग जाने का मन हो रहा था। छत पर जाकर उस छाया को देखने का, उसको भोगने का, उसमें विलीन हो जाने का विचार आता रहा। समय की तरंगें प्रवाहित हो रही थी या स्थिर थी उससे वह नि:स्पृह था।

संध्या होते ही वह घर की तरफ दौड़ा, सीधा छत पर जाकर उस श्वेत भींत को देखने लगा। उस पर कोई छाया नहीं थी। बस वहाँ श्वेत, रंगहीन सुखी भींत थी। पीटर ने लंबी प्रतीक्षा की किन्तु वह भींत श्वेत ही रही। उसका रंग नहीं बदला किन्तु गगन का रंग बदलता रहा। संध्या के रंग क्षितिज से डूबते सूरज को विदा कर गया। रात्रि का आगमन हो गया, श्वेत भींत तमस में अदृश्य हो गई। वह निराश हो लौट आया अपने कक्ष में।

छाया ने उसे रात्रि भर सोने नहीं दिया। न तो रात्रि बीत रही थी न ही निंद्रा आ रही थी। पीटर को समय की यह मंद गति खल रही थी किन्तु वह विवश था। उसे प्रतीक्षा थी प्रभात के आगमन की।

रात्रि के अंतिम प्रहर में उसे नींद आने लगी किन्तु वह सोना नहीं चाहता था। किन्तु नींद ने उसे परास्त कर दिया। कैसी विडंबना थी! किसी भी प्रकार से वह जागता रहा। घड़ी देखता रहा। जब घड़ी ने कल का समय दिखाया तो वह छत पर दौड़ गया। सीधे ही उस श्वेत भींत को ताकने लगा।

वही श्वेत भींत, बिना रंग की, बिना दाग की और बिना छाया की श्वेत भींत। पीटर ने उस भींत को ध्यान से देखा, बार बार देखा। भींत वैसी ही रही। उसने समय जांचा और भींत को देखने लगा। कुछ भी नहीं बदला। जैसी की वैसी ही थी वह। उसने अपना धैर्य खोया। वह तिन फिट लांघकर उस छत पर जा ही रहा था कि भींत पर आकृति उभरी। उसने स्वयं को रोका। आकृति छाया बन गई। उसने उसे देखा, परखा। वह वही थी जो कल थी।

छाया ने वह सब क्रिया की जो उसने कल की थी। अंत में अदृश्य हो गई।
पीटर उन सारी क्रियाओं को स्थिर सा देखता रहा, अपलक नेत्रों से।
जब समय के अंतराल के पश्चात उसने पलकें हिलाई तो देखा कि भींत पुन: श्वेत बन गई थी। स्थिर, रंग विहीन, भावना विहीन, खाली और जीवन विहीन श्वेत भींत, जैसे युगों से ध्यान मग्न कोई संत हो! उसने अनुभव किया कि भींत बड़ी शीघ्रता से रंग बदलती है। इसका विश्वास नहीं किया जा सकता। वह लौट आया अपने कक्ष में।
अगले आठ दस दिन वही सब होता रहा। श्वेत भींत, श्याम छाया। छाया की वही क्रियाएं। इस तरफ से पीटर का मुग्ध होकर वही सब कुछ देखना।
एक दिन उसने निर्णय कर लिया कि वह तिन फिट कूद जाएगा और उस श्याम छाया के बिम्ब को देख लेगा। उस श्वेत भींत की श्याम छाया का रहस्य जान लेगा।
पीटर ने छाया की प्रतीक्षा की। छाया आई और भींत पर दिखी। छाया वही नित्य क्रिया करने लगी। पीटर ने उसे देखा और कुछ क्षण विचारता रहा।
छाया ने अपने वस्त्र हटाए, अनावृत हो गई।
पीटर कूदा और दोनों घरों की सीमा पर स्थित उस तिन फिट भींत को लांघ गया। वह छाया की छत पर आ गया। वह छाया के प्रति चुपके से बढ़ा। छिपकर उसे देखा। जो देखा उससे वह स्तब्ध हो गया।
बीस बाईस वर्ष की एक युवती अनावृत थी। उसकी पीठ और स्तनों का कुछ भाग दिखाई दिया। उसके केश खुले थे, कंधों पर बिखरे थे। उसका दाहिना कान, दाहिना गाल तथा दाहिना कंधा पीटर जहां खड़ा था वहाँ से दिख रहा था। एक तरफ उसकी पीठ का भाग और दूसरी तरफ खुला स्तनाग्र। छाती का घुमाव अनावृत था जिस पर भी केश बिखरे थे जो स्तनों को अर्ध आवृत कर रहे थे।
पीटर उसे देखते ही रहना चाहता था किन्तु ऊसके भीतर कुछ जन्मा। उसने वहाँ से नयन हटा लिए जो अब कमर पर अटक गए। घुमावदार और मादक कमर। वह

उन घुमावों में उलझ गया। जैसे किसी समुद्र की तरंगों में वह उतर गया हो। एक कडे संघर्ष के पश्चात वह उस भंवर से मुक्त हुआ। कमर के नीचे दो जंघाएं, आकर्षक और उसके नीचे शिल्प जैसी दो पिंडियाँ।

ऊपर से नीचे तक वह एक प्रतिमा थी जिसे किसी श्रेष्ठ शिल्पी ने घड़ी हो। वह अपनी सांस रोककर उसे दखता रहा।

युवती ने तन पर साबुन मला। श्वेत फेन की एक चादर उसके शरीर को लिपट गई। जैसे अनावृत शरीर पर पारदर्शक चादर, जो उस शरीर को ढंकने का प्रयास कर रही हो, किन्तु उसे ढंकने के स्थान पर अधिक प्रस्तुत कर रही हो। उस से लिपटा तन मोहक था।

उसने उस पर पानी डाला। श्वेत फेन की चादर धीरे धीरे सरकने लगी, जैसे वह अपने शरीर से श्वेत वस्त्र धीरे धीरे दूर कर रही हो। अनावृत शरीर पुन: अनावृत हो गया।

उसने स्नान सम्पन्न किया। तोलिया लेने के लिए वह घूमी। उसकी आँखों ने पीटर को पकड़ लिया। पीटर ने छिपना चाहा किन्तु विफल रहा।

युवती ने समज लिए कि एक युवक उसके सम्मुख है जो उसके अनावृत शरीर को देख रहा है। और वह उसके प्रत्यक्ष खड़ी है, पूरी अनावृत। वह व्याकुल हो गई, क्षण भर के लिए किन्तु शीघ्र ही उसने स्वयं को संभाला। एक गहरी सांस ली। उसने अपनी अनवृत अवस्था को छिपाने का प्रयास नहीं किया। वह वैसी ही खड़ी रही। न तो वह लज्जित हुई न ही उसने तोलिए से तन को ढंकने का यत्न किया। न ही वह स्वयं को छिपाने के लिए कहीं दौड़ गई।

एक तरफ युवक पूरे कपड़ों में तो दूसरी तरफ युवती बिना एक भी वस्त्र के। दोनों प्रतिमा की भांति खड़े रहे, एक दूसरे को देखते हुए। चारों आँखों में आश्चर्य और विस्मय थे। वह विस्मय ही दोनों के मध्य सेतु बन गया। दोनों ने उस सेतु से कुछ प्रवाहित होते हुए अनुभव किया।

पीटर को अपराध भाव होने लगा। युवती ने अपने अधरों को खोलने के लिए हिलाए। पीटर ने उसे देखा और अपनी आँखें बंद कर ली।

“मैं ल्यूसि, और आप?” पीटर की बंद आँखों पर ये शब्द पड़े। उसमें माधुर्य था। कहीं भी किसी प्रकार की कर्कशता नहीं थी न ही क्रोध था। पीटर को विश्वास हो गया कि युवती न तो गुस्सा थी न ही अप्रसन्न थी।

पीटर ने धीरे से आँखें खोली। ल्यूसि अभी भी वैसे ही खड़ी थी, अनावृत किन्तु सहज, सरल और स्वाभाविक मुद्रा में। समय की वह सुंदर मुद्रा थी। इस स्थिति में भी उसके मुख पर कोई तनाव नहीं था, न ही वह विचलित थी, न भय, न संकोच। कुछ भी नहीं। वह नैसर्गिक थी जो पीटर को विचलित कर रही थी।

पीटर ने उसे माथे से पग तक देखा। वह वैसे ही खड़ी थी जैसे प्रथम दर्शन पर थी। एक लावण्या उसके शरीर से टपक रहा था। सौन्दर्य का एक झरना वहाँ बह रहा था।

पीटर ने पुन: अपनी आँखें बंद कर ली। ल्यूसि हंस पड़ी। उसका हास्य सभी दिशाओं में घुल गया। पीटर को प्रतीत हुआ की उसका हास्य उसके तन से भी अधिक सुंदर, आकर्षक और मादक है।

“इस स्थिति में तुम्हें क्षोभ नहीं हो रहा है?” पीटर ने आँखें खोल उसे देखते हुए पूछा।

“नहीं तो? यह स्वाभाविक है। क्षोभ की कोई बात ही नहीं है।” ल्यूसि ने अपने शरीर को देखते हुए कहा।

“इस प्रकार, मेरे सम्मुख, बिना किसी वस्त्र के, कैसी अनावृत ...?” पीटर का स्वर कंपन करने लगा।

‘यह अनावृत अवस्था मेरे शरीर से अधिक तुम्हारे मन में है।’ ऐसा कहने की ल्यूसि के मन में इच्छा हो आई किन्तु उसने उसे टाल दिया।

“हमारे विचार, स्वप्न, आशाएं, आकांक्षाएं, इच्छाएं, हमारा सत्य, हमारा असत्य, हमारे षड्यन्त्र, हमारी छलनाएं, हमारी कल्पनाएं, ये सब अनावृत होती हैं। हमें

उससे लज्जा नहीं आती। तो इस अनावृत शरीर से लज्जा क्यों? क्यों हम उससे घृणा करते हैं?” ल्यूसि ने अपने विचार शब्द बदलकर बोल दिए। पीटर निरुत्तर था, नि:शब्द था।

ल्यूसि ने पीटर के मन को परख लिया। तोलिया लिया और पूरे तन पर लपेट लिया। उसने उसके आधे शरीर को ढँक दिया जिसमें वह अधिक सुंदर, आकर्षक और मादक लग रही थी।

पीटर ने उस तोलिए को देखा। वह श्वेत था। और जिस शरीर को वह ढँक रहा था उसका रंग श्याम था। श्वेत तोलिए में छिपी श्यामा।

प्रथम बार पीटर का ध्यान गया कि जिस शरीर को देखने के लिए वह तिन फिट भींत कूद गया था, वह श्वेत नहीं श्याम था। उसने पुन: उस शरीर को देखा। वह श्याम ही था। जैसे श्वेत गगन में छाया श्याम मेघ!

‘मैंने उसके शरीर के रंग को क्यों नहीं देखा? मैं यह चूक कैसे गया?’ उसने स्वयं से प्रश्न किया।

“जब हम कामुक होते हैं तब हमारी दृष्टि के प्रत्यक्ष ही पड़ी कई बातों को हम चूक जाते हैं। उस समय हमारी आँखें अंध हो जाती है।” ल्यूसि ने पीटर के प्रश्न को पढ़ लिया और उत्तर भी दे दिया।

“तो तुम मुख पढ़ लेती हो!” पीटर को नया विस्मय हुआ।

ल्यूसि ने मौन स्मित दिया। उसके श्याम गालों के मध्य बसे लाल होंठों पर इंद्रधनुष के सभी रंग आकर बैठ गए। कुछ क्षण दोनों ने मौन ही बहने दिए। एक दूसरे को देखते रहे।

“तुम वहाँ क्यों खड़े हो? यहाँ आओ, निकट आओ। मेरे साथ आओ। तुम्हें अपने सभी प्रश्नों के उत्तर मिलेंगे।” ल्यूसि ने अपने हाथों से पीटर को आमंत्रित किया। वह छत के दूसरे कोने की तरफ गई, पीटर अनायास ही उसके पीछे चल पड़ा। जिस भींत पर पीटर आठ दस दिनों से श्याम छाया को देखता था वहीं जाकर ल्यूसि रुकी। उससे सटकर वह खड़ी हो गई। पीटर भी वहीं रुका। उस स्थान की

रिक्तता सर्वत्र व्याप्त थी किन्तु ल्यूसि में कुछ भी रिक्त नहीं था। किसी अद्भुत बात से वह परिपूर्ण थी। एक तरफ अनंत रिक्तता थी तो दूसरी तरफ पूर्णता थी। कितनी सहजता से कोई अनंत रिक्तता को परास्त कर पूर्णता को प्राप्त कर लेता है!

पीटर अभी भी अनेक संशयों से घिरा हुआ था, ल्यूसि बंधनों से मुक्त थी। उसने पीटर का मुख पढ़ा और पुन: स्मित किया।

“अनेक संशयों और प्रश्नों के साथ कोई जी नहीं सकता। मौन को भंग करना होगा। ठीक है? अपने विषय में कुछ कहो। तो, क्या नाम है तुम्हारा?” ल्यूसि के रक्त होंठों ने बात रखी।

पीटर को ध्यान आया, ‘उसने अभी तक अपना परिचय ल्यूसि को नहीं दिया है न ही अपना नाम बताया है। तथापि ल्यूसि का व्यवहार सहज और सामान्य है। और मैं अभी भी उलझनों में घिरा हुआ हूँ। ल्यूसि का ऐसा व्यवहार मुझे विचलित कर रहा है। ऐसा क्या है इस युवती में? क्यों वह ऐसी स्वाभाविक है? क्या कोई किसी अज्ञात से प्रथम मिलन में, इतना सहज हो सकता है? वह भी उससे जिसने उसे अनावृत देखा हो?

कुछ तो है ल्यूसि में जो मुझे उसकी तरफ आकर्षित कर रहा है। यह चुंबक जैसा है, काले चुंबक जैसा। हाँ, ल्यूसि चुंबक ही है। चुंबक काले ही होते हैं और ल्यूसि भी काली ही है।’

“पीटर है मेरा नाम।” वह इतना ही बोल पाया। ल्यूसि हंसने लगी।

“पीटर? एक सुंदर नाम है। तो तुम इस अरण्य की देखभाल कर रहे हो?”

“हाँ, तुमने कैसे जाना?”

“यहाँ इस एकांत स्थान में केवल दो ही भवन है। जो अरण्य का स्वामी है वही इन भवनों का स्वामी भी है। एक, जिसमें मैं रहती हूँ और दूसरा उसके लिए है जो अरण्य की देखभाल करता है। मैं यहाँ के विद्यालय में शिक्षिका हूँ। विद्यालय भी अरण्य के स्वामी का ही है।

लंबे समय से आपवाले उस भवन में कोई नहीं रहता था। तुम कब से काम पर लगे हो?”

“मैं? आठ दस दिन हो गए। तब से इसी भवन में रहता हूँ और..।”

“और अपनी छत से मुझे देखते रहे हो? मेरे अनावृत शरीर को?” ल्यूसि ने चंचल किन्तु सहज स्मित के साथ पूछा।

“शरीर नहीं, केवल छाया को ही देखता था। शरीर तो आज ही देखा। सुंदर है ...।”

“तुम छत पर कैसे पहुँच गए? कैसे जाना कि एक युवती भी यहाँ रहती है?”

ल्यूसि ने पीटर की आँखों में देखते हुए पूछा। पीटर स्तब्ध हो गया किन्तु कुछ ही क्षण के मौन के पश्चात वह बोला, “मैं तो श्वेत भींत को देख रहा था जिस पर स्नान करते समय तुम्हारी श्याम छाया पड़ती थी। मैं तो केवल अनावृत श्याम छाया को ही देख रहा था।”

“छाया तो सदैव श्याम ही रहती है, शरीर का रंग कोई भी हो। वह अनावृत ही होती है, भले ही शरीर पूरे वस्त्रों से आवृत हो।” वह हंस पड़ी। क्षणभर रुकी, गहरी सांस ली।

“पीटर देखो, तुम्हारा शरीर श्वेत है किन्तु इस भींत पर तुम्हारी छाया श्याम ही है। और हाँ, तुमने अपने शरीर को वस्त्रों से आवृत भी रखा है। तथापि तुम्हारी छाया अनावृत ही है।”

वह पुन: हंसी। इस बार ऊंचे स्वर में हंसी। वह हास्य समग्र अरण्य में व्याप गया।

“अनावृत होकर इस प्रकार स्नान करने से तुम्हें संकोच नहीं होता है? कोई ऐसे में तुम्हें देख लेगा ऐसा भय नहीं लगता?”

“नहीं तो?”

“क्यों?”

“यहाँ केवल दो ही भवन हैं। एक जिसमें मैं रहती हूँ और दूसरा महीनों से खाली पड़ा था। उपरांत इसके यहाँ कोई नहीं रहता। मुझे किसका भय? किससे संकोच?”

“किन्तु अब तो मैं रहता हूँ न यहाँ?”

“तो? तुम मेरे अनावृत शरीर को देख ही चुके हो। अब, तुमसे छिपाने को कुछ नहीं है मेरे पास।”

“अब भी तुम वैसे ही स्नान करती रहोगी?”

“हाँ। क्यों नहीं, पीटर?” उसके अधरों पर मीठा स्मित था।

ल्यूसि की बातों से पीटर पूर्ण रूप से दुविधा में पड गया।

‘कितना कुछ है इस युवती मैं?

एक, वह सहज है, पूरी तरह से सहज।

दूसरा, उसका स्मित अद्भुत है।

तीसरा, कोई चुंबक है उसमें।

चौथा, उसकी अनावृतता सरल और स्वाभाविक है।

बहुत कुछ है ल्यूसि में किन्तु वह श्याम है।’ उसी दुविधा में वह अधिक डूब गया।

“पीटर, मेरे विद्यालय जाने का समय हो गया है।” पीटर को उसी दुविधा में छोड़कर ल्यूसि चली गई।

पीटर उसी श्वेत भींत को देखता हुआ खड़ा रहा। उस पर वह ल्यूसि की अनावृत और श्याम छाया को खोजता रहा। किन्तु वहाँ कुछ नहीं था। वह केवल भींत थी, श्वेत भींत, निर्जीव भींत।

वह स्वयं को भी श्वेत, रंग विहीन और निर्जीव सा अनुभव करने लगा, भींत की भांति। उसका ह्रदय एक स्पंदन चूक गया या उसकी सांस रुक गई? पीटर नहीं जानता था।

उसके प्रत्यक्ष खालीपन, अरण्य और कहीं भी नहीं पहुँचने वाली निर्जन पगडंडी थी। सब कुछ स्थिर, गतिहीन, और खाली था, पीटर की भांति।

अचानक उस निर्जन पगडंडी पर उसकी आँखों ने एक आकृति देखि। वह ल्यूसि थी। वह पूरे वस्त्रों में वहाँ से विद्यालय जा रही थी। वह कहीं से भी अनावृत नहीं थी। उसकी अनावृत अवस्था अदृश्य हो गई थी।

उसकी चाल सहज थी, ल्यूसि जैसी ही। वह सुंदर, आकर्षक और चुबकीय थी किन्तु वह श्याम नहीं थी। उस फीकी पगडंडी पर उसके पद चिह्न रंग भर रहे थे।
पीटर शून्य दृष्टि से दूर जाती हुई ल्यूसि की पीठ को देखता रहा। शीघ्र ही वह अरण्य में अदृश्य हो गई।
दूसरे दिन ल्यूसि ने वही सब कुछ किया जो छत पर स्नान करते समय किया करती थी। उसे पीटर की अपेक्षा थी किन्तु वह नहीं आया। उसने पीटर की छत को देखा किन्तु वहाँ कोई नहीं था। वह कहीं नहीं था।
प्रतिदिन वह वही सब करती रही, पीटर की अपेक्षा करती रही, किन्तु पीटर कभी नहीं आया। दिनों तक पीटर न तो ल्यूसि की छत पर न ही अपनी छत पर दिखा। कहीं अन्यत्र भी नहीं दिखा।
महिना भर व्यतीत हो गया। एक संध्या के पश्चात वह पीटर के घर दौड़ गई।
“पीटर, उस दिन के पश्चात तुम छत पर नहीं दिखे?” उसने पीटर से बात करना चाही। पीटर ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दि न ही उत्तर दिया। वह भाव शून्य होकर ल्यूसि को देखता रहा।
“तुम मेरे मित्र बनोगे?” ल्यूसि ने सहजता से पूछा। उसने अपना हाथ पीटर की तरफ बढ़ा दिया। पीटर ने उस काली हथेली को शुष्क दृष्टि से देखा।
“तुम काली युवती हो। तुम्हारे शरीर का रंग काला है।” पीटर ने धीरे से मौन तोड़ा।
“मेरे शरीर का रंग काला है किन्तु आत्मा का रंग..।”
ल्यूसि अपनी बात पूर्ण करे उससे पूर्व ही पीटर बोल पड़ा, “मुझे काले व्यक्ति पसंद नहीं है।” उसकी बात में अरुचि थी।
‘काली चमड़ी वाले मनुष्य नहीं होते? उसे भावनाएं नहीं होती? वे अपनी छाती में ह्रदय नहीं रखते? क्या उनके ह्रदय में स्पंदन नहीं होते? क्या वे सुख, दु:ख, आनंद, संवेदना का अनुभव नहीं करते? काले व्यक्ति भी जीवंत मनुष्य ही हैं। वे पत्थर के मृत पुतले नहीं हैं।’ ल्यूसि ऐसे उत्तर देना चाहती थी किन्तु वह मौन रही। केवल स्मित करती रही। उसका वह सहज स्मित पुन: पीटर को चुभने लगा।

“काले व्यक्ति काले ही होते हैं। मैं जानता ...।” पीटर कहने लगा।

“व्यक्ति श्वेत या श्याम नहीं होते। उनके विचार, उनकी धारणाएं काली होती हैं, तुम्हारी भांति। श्वेत चमड़ी, काला मन।” उसने शांत स्वर से कहा, पीटर की तरफ तीव्र स्मित फेंका और घर से निकल गई।

तब से ल्यूसि ने न तो पीटर को न ही उसके घर को कभी देखा। उसके लिए वह घर उज्जड हो गया, जहां कोई नहीं रहता था।

लंबे समय के पश्चात, एक सुंदर प्रभात को ल्यूसि ने पीटर के घर के द्वार पर कुछ चहल पहल देखि। वह किसी श्वेत युवती के साथ था। दोनों गाड़ी में सामान रख रहे थे। सामान रखते ही दोनों गाड़ी में बैठ गए और गाड़ी कहीं दूर चली गई। ल्यूसि ने जेक से उनके विषय में कुछ नहीं पूछा, कभी नहीं।

तिन वर्ष जैसा समय बीत गया। ल्यूसि अपनी छत पर थी। प्रकृति के अथाह रस को पी रही थी।

पास वाले घर के आगे एक गाड़ी आकर रुकी। ल्यूसि ने जान लिया कि पीटर जिस गाड़ी में श्वेत युवती के साथ यहाँ से गया था वही गाड़ी थी वह।

पीटर गाड़ी से निकला, श्वेत युवती भी। उसके हाथ में एक बालक था, पीटर की भांति श्वेत। बालक सुंदर और स्वस्थ था। किन्तु वह युवती दुर्बल और शक्ति हीन लग रही थी, जैसे उसके शरीर के भीतर बसा जीवन मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा हो। जेक ने घर का द्वार खोला, तीनों उसमें अदृश्य हो गए।

ल्यूसि ने स्वयं को कड़ी सूचना दी, “पास वाले घर में कोई नहीं रहता था, न ही कोई अब रहता है।” अपने घर में स्वयं को बंद कर लिया उसने।

ल्यूसि ने अपने बच्चे को देखा, झुकी, उसे उठाया, छाती से लगाया और उसके ऊपर अपने स्नेह की वर्षा करने लगी। बच्चा उसके स्नेह के झरने में भीगता रहा। उन दोनों को निहारने के लिए समय ने भी अपनी यात्रा क्षण भर के लिए रोक दी। इन तीन वर्षों में ल्यूसि ने विवाह कर लिया, एक सैनिक से जो अवकाश मिलते ही

ल्यूसि के पास अरण्य में आ जाता। ल्यूसि को एक बच्चा हुआ, ल्यूसि की ही भांति काला। वह अब छः महीने का हो चुका था। जैसे वह ल्यूसि की प्रतिकृति हो! ल्यूसि ने बच्चे को अपना दूध पिलाया। ल्यूसि के भीतर जन्मा प्रवाही, झरना बनकर, काली पहाड़ियों को पार कर बहता हुआ श्वेत दूध!

काली पहाड़ियों से बहता झरना काली उपत्यकाओं में समा रहा था। उस श्वेत झरने से तृप्त बच्चा ल्यूसि की छाती से लिपट कर सुख से सो गया। दोनों के मुख पर शाश्वत शांति थी।

पीटर से प्रथम मिलन की स्मृति लिए एक शीतल लहर ल्यूसि के ह्रदय में उठी। उसने उसे शांति से, स्थिरता से और सहजता से बहने दिया। लहर स्वत: शांत हो गई।

पास वाले घर से समय समय पर बच्चे का रुदन उसके ह्रदय को छूता रहता, जो उसे स्मरण कराता था कि वहाँ कोई रहता है। ल्यूसि प्रत्येक बार अपने ह्रदय को मनाती कि वहाँ कोई नहीं रहता। किन्तु वह श्वेत बच्चा उसे अविरत स्मरण कराता रहता कि वह उसका पड़ोसी है, वह वहाँ रहता है, उसी घर में जहां कभी पीटर भी रहता था।

धीरे धीरे ल्यूसि ने उसके रुदन के साथ, उनके होने के साथ अनुकूलन साध लिया। उसे स्वीकार कर लिया, सहज ही।

पंद्रह से अधिक दिन बीत गए। इस समय में जेक ने ल्यूसि को बताया कि - उस श्वेत युवती के साथ विवाह के पश्चात पीटर महानगर में स्थायी हो गया। उसकी पत्नी जुली ने एक बच्चे को जन्म दिया। किन्तु उसके जन्म के साथ ही जुली को कोई अज्ञात और विचित्र रोग लग गया। डॉक्टरों ने अनेक प्रयत्न किये किन्तु कोई उपचार नहीं हो पाया। जुली का स्वास्थ्य शीघ्रता से गिरने लगा। उसने जान लिया कि उसके जीवन का अल्प समय ही शेष रहा है।

“मैं इस महानगर में मरना नहीं चाहती। मुझे ले चलो यहाँ से।” जुली ने पीटर से कहा। पीटर ने जुली के अधरों पर अपनी अंगुली रख दी और मौन ही रहा। जुली उस मौन की भाषा को जानती थी।

और एक दिन, महानगर को छोड़कर वे इस अरण्य में आ गए। जुली अपना शेष जीवन अरण्य में ही जीना चाहती थी, वही अरण्य जिसे जुली ने तिरस्कार पूर्वक छोड़ा था।

पीटर ने जुली को ल्यूसि के विषय में कभी कुछ नहीं कहा। पीटर, जुली और बच्चा अपने ही घर में रहते थे। कहीं आते जाते न थे। उस घर में शांति और मौन की छाया भी रहने लगी थी। समय समय पर बच्चे का रुदन ही उसे भंग करता था। जब जब उसका रुदन शांत हो जाता, वह छाया लौट आती।

उस बच्चे का रुदन सुनना ल्यूसि का नित्यक्रम हो गया था। उसके कान अपने बच्चे के रुदन और पीटर के बच्चे के रुदन का भेद परख लेते थे।

एक रात्री को पीटर का बच्चा रोने लगा। वह रुदन सामान्य ही था तो ल्यूसि ने उस पर ध्यान नहीं दिया। वह दूर कहीं देखती रही। वह पूर्णिमा की रात्री थी। सभी दिशाओं में नीरवता व्याप्त थी। अरण्य गहरी निंद्रा में जा चुका था। श्वेत बड़ा चंद्र काले गगन की गोद में खेल रहा था, जैसे श्वेत बालक काली छाती से लिपटा हो। श्वेत बालक!

वह तो रहता था पास वाले घर में जहां वह कुछ समय पूर्व रोया था।

ल्यूसि ने चंद्र को देखा। चंद्र जैसा बालक पुन: रोया, शांत हो गया। उसने उसे सुना और नित्य की भांति अनसुना कर दिया।

बालक पुन: रोया, उसने पुन: सुना। बालक रोए जा रहा था, अविरत।

‘नित्य तो रुदन के कुछ ही क्षणों में वह शांत हो जाता था। किन्तु यह तो रो ही रहा है। कुछ तो है।’ ल्यूसि को यह असहज लगा। उसने उसके रुदन पर ध्यान दिया।

‘यह रुदन नित्य से भिन्न है। असहज है। उसमे पीड़ा है। वह रोता ही जा रहा है।’

उस रुदन से ल्यूसि उद्विग्न हो गई, जो नित्य शांत और स्वाभाविक रहती थी। उसके भीतर वह रुदन कोई शुल सा चुभा। उसने उसके ह्रदय को छलनी कर दिया।
'वह बालक तुझे बुला रहा है, उसे तेरी आवश्यकता है।'
'नहीं, नहीं। यह मेरा भ्रम है। वह रो रहा है किन्तु मुझे नहीं बुला रहा।' ल्यूसि ने स्वयं को आश्वस्त करने का प्रयास किया।
बालक अभी भी रो रहा था। पीड़ा से पूर्ण रुदन था वह। ल्यूसि ने उस पीड़ा को अपने भीतर अनुभव किया। वह विचलित थी तथापि शांत थी। उसके भीतर एक पीड़ा जन्म चुकी थी किन्तु वह उसे नकार रही थी। पीड़ा और नकार दोनों उसके भीतर थे और दोनों मध्य संघर्ष हो रहा था। बच्चा रुक नहीं रहा था किन्तु ल्यूसि का संघर्ष रुक गया। पीड़ा जीत गई।
ल्यूसि ने घर का द्वार खोल दिया और दौड़ पड़ी पड़ोसी के घर। उस घर जहां, उसके ह्रदय ने कह दिया था कि वहाँ कोई नहीं रहता।
पीटर के घर का द्वार खुला था। उसने उसे धकेला और दौड़ गई भीतर। एक कोने में, पीटर बच्चे को शांत करने का प्रयास कर रहा था किन्तु बच्चा शांत नहीं हो रहा था। पीटर भाव शून्य था। दूसरे कोने में जुली लेटी हुई थी, स्थिर, निर्जीव!
ल्यूसि ने शीघ्र ही समज लिया कि क्या हो चुका है और बच्चा क्यों अविरत रोए जा रहा है। क्यों पीटर भाव शून्य है।
उसने एक क्षण भी नष्ट नहीं की। उसने पीटर को हटाया, उसके हाथों से बच्चे को ले लिया, अपनी छाती से लगा लिया, झटके से गाउन को खोल दिया।
दूध से भरे दो काले स्तन बाहर कूद पड़े। उसने स्तनाग्र को दबाया। उसमें से श्वेत दूध की धारा निकल पड़ी। उसने बच्चे के मुंह में दूध की धारा बहा दी। बच्चा दूध पीने लगा।
श्याम शरीर से जन्मे, श्याम नसों से बहे, श्याम स्तनों से निकले उस दूध का रंग श्वेत ही था। श्वेत बच्चा उसी श्वेत दूध को श्याम पयोधरों से पी रहा था।

दूध पी रहे बच्चे को पीटर देखने लगा। बच्चा दूध से भरे पयोधरों के रंग से अनभिज्ञ था। वह ल्यूसि की श्याम छाती पर सो गया। उसके मुख पर अब कोई पीड़ा नहीं थी, न ही ल्यूसि के मुख पर।

ल्यूसि बंद आँखों से बच्चे पर स्नेह बरसा रही थी। पीटर उसे खुली आँखों से निहार रहा था। उसके सम्मुख श्याम भींत पर श्वेत छाया थी, शुभ्र छाया। छाया वास्तविक थी, भींत भी।

'ल्यूसि, तुम मिथ्या थी। छाया का रंग सदैव श्याम नहीं होता। यदि भींत श्याम हो तो छाया श्वेत भी हो सकती है।' पीटर मन ही मन बोल पड़ा।

*

सम्पन्न।

प्रकाशक -

व्रजेश दवे।

15/02/2026. शिव रात्री। टोरोन्टो केनेडा।

00 91 94260 41107 / 00 91 95108 45218

dave.vrajesh@gmail.com

श्वेत छाया

(हिन्दी वार्ता संग्रह)

व्रजेश दवे